

JOURNAL 96

JOURNAL OF THE DEPARTMENTS
OF
BENGALI ENGLISH
PHILOSOPHY AND THE LIFE-WORLD

ACC. No.	C-7-852
Date	17/10/96

To Central
Library, VU

J. J. Banerjee

13/10/96



EDITOR

T. J. BANERJEE

Advisory Board :

Dr. L. A. Khan

Dr. S. P. Singha

Dr. T. Das Purkayastha

Mr. P. Misra

Published by :

Dy Registrar, Vidyasagar University

Midnapore

March, 1996

Printed at :

Prakashana : P. P. House

M-12 Sarat Palli

Midnapore-721 101

Price : Rs. 20.00

EDITORIAL

A cluster journal has its merits and problems. It can serve a more varied fare than a single-subject journal. It can also assume a multi-disciplinary character. But sometimes variety within the boundaries of one subject appears more welcome than that of the inter-disciplinary kind, more so to the teachers of the Department which handles the subject. If a little parochial, this approach is perfectly legitimate in as much as it smacks of intellectual independence and a healthy desire to excel in one's home territory. By this token, Bengali, English and Philosophy should have been given the freedom of bringing out their own separate journals. Unfortunately, our University was not free to provide adequate financial support for such a project, and so we had to settle for this combined effort.

This is the first Humanities Journal being published. No attempt has been made to integrate the three separate sections into something of a whole by way of using a common theme or a common form. While the two Bengali papers deal with two widely differing subjects, the four papers in the Philosophy section have as many topics, and the four-piece English section has as its beginning the 16th Century Drama and as its end Thomas Hardy's poetry in the early decades of the 20th century, with a middle concerning the literary criticism of the 1990s. The two papers on Thomas Hardy had been written by our two distinguished colleagues of Burdwan University for a seminar we arranged in the Department of English here in November 1990. I wish to thank Prof. M. K. Roy and Dr. R. Kundu for their kind permission to publish these papers in the present issue of our Humanities Journal.

So it should be quite apparent that even in the cluster-format the individual entities of the three subjects have been kept unaffected. At the same time each subject has introduced as much variety as possible within the very limited space allotted to it. Apart from offering a few minor suggestions and getting them accepted—those, too, relating mostly to the quantity rather than the quality of the papers—I have not done much as the Journal's editor. Overseeing the whole process, right from the time of commissioning the articles until their emergence from the press in the final shape, has been a great pleasure. My colleagues on the Advisory Board have extended all co-operation. May I thank them whole-heartedly. Finally, our grateful thanks to the University Authorities for the financial grant which has made this publication possible.

CONTENTS

বাংলা

- দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষা বিশ্লেষণ
—চিহ্নিতা সিংহ চৌধুরী : ৩
- রবীন্দ্র সাহিত্য ও মুসলমান প্রসঙ্গ
—লায়েক আলি খান : ৩৭

PHILOSOPHY

- The Idea of Cause : A Philosophical Analysis
—Hiranmoy Banerjee : 51
- Śarī kara's Critique of Vaiśeṣika View on
World-Origination
—Raghunath Ghosh : 58
- Reality, World and Man in Vivekananda's
Neo-Vedāntism
—Sabujkali Sen (Mitra) : 63
- Implications of the Life-World
—Prabhat Misra : 70

ENGLISH

- End of Prose
—Rama Kundu : 77
- Thomas Hardy as a War-Poet
—Mohit K. Roy : 90
- Anticipation of certain themes of
Shakespeare's later drama in his Venus and
Adonis and The Rape of Lucrece
—Akram Hossain ; 96
- Poetry of the Nineties
—Sankar P. Singha : 111

বাংলা

দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষা বিশ্লেষণ
—চিহ্নিতা সিংহ চৌধুরী

রবীন্দ্রসাহিত্য ও মুসলমান প্রসঙ্গ
—লায়েক আলি খান

1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27
28
29
30
31
32
33
34
35
36
37
38
39
40
41
42
43
44
45
46
47
48
49
50
51
52
53
54
55
56
57
58
59
60
61
62
63
64
65
66
67
68
69
70
71
72
73
74
75
76
77
78
79
80
81
82
83
84
85
86
87
88
89
90
91
92
93
94
95
96
97
98
99
100
101
102
103
104
105
106
107
108
109
110
111
112
113
114
115
116
117
118
119
120
121
122
123
124
125
126
127
128
129
130
131
132
133
134
135
136
137
138
139
140
141
142
143
144
145
146
147
148
149
150
151
152
153
154
155
156
157
158
159
160
161
162
163
164
165
166
167
168
169
170
171
172
173
174
175
176
177
178
179
180
181
182
183
184
185
186
187
188
189
190
191
192
193
194
195
196
197
198
199
200
201
202
203
204
205
206
207
208
209
210
211
212
213
214
215
216
217
218
219
220
221
222
223
224
225
226
227
228
229
230
231
232
233
234
235
236
237
238
239
240
241
242
243
244
245
246
247
248
249
250
251
252
253
254
255
256
257
258
259
260
261
262
263
264
265
266
267
268
269
270
271
272
273
274
275
276
277
278
279
280
281
282
283
284
285
286
287
288
289
290
291
292
293
294
295
296
297
298
299
300
301
302
303
304
305
306
307
308
309
310
311
312
313
314
315
316
317
318
319
320
321
322
323
324
325
326
327
328
329
330
331
332
333
334
335
336
337
338
339
340
341
342
343
344
345
346
347
348
349
350
351
352
353
354
355
356
357
358
359
360
361
362
363
364
365
366
367
368
369
370
371
372
373
374
375
376
377
378
379
380
381
382
383
384
385
386
387
388
389
390
391
392
393
394
395
396
397
398
399
400
401
402
403
404
405
406
407
408
409
410
411
412
413
414
415
416
417
418
419
420
421
422
423
424
425
426
427
428
429
430
431
432
433
434
435
436
437
438
439
440
441
442
443
444
445
446
447
448
449
450
451
452
453
454
455
456
457
458
459
460
461
462
463
464
465
466
467
468
469
470
471
472
473
474
475
476
477
478
479
480
481
482
483
484
485
486
487
488
489
490
491
492
493
494
495
496
497
498
499
500
501
502
503
504
505
506
507
508
509
510
511
512
513
514
515
516
517
518
519
520
521
522
523
524
525
526
527
528
529
530
531
532
533
534
535
536
537
538
539
540
541
542
543
544
545
546
547
548
549
550
551
552
553
554
555
556
557
558
559
560
561
562
563
564
565
566
567
568
569
570
571
572
573
574
575
576
577
578
579
580
581
582
583
584
585
586
587
588
589
590
591
592
593
594
595
596
597
598
599
600
601
602
603
604
605
606
607
608
609
610
611
612
613
614
615
616
617
618
619
620
621
622
623
624
625
626
627
628
629
630
631
632
633
634
635
636
637
638
639
640
641
642
643
644
645
646
647
648
649
650
651
652
653
654
655
656
657
658
659
660
661
662
663
664
665
666
667
668
669
670
671
672
673
674
675
676
677
678
679
680
681
682
683
684
685
686
687
688
689
690
691
692
693
694
695
696
697
698
699
700
701
702
703
704
705
706
707
708
709
710
711
712
713
714
715
716
717
718
719
720
721
722
723
724
725
726
727
728
729
730
731
732
733
734
735
736
737
738
739
740
741
742
743
744
745
746
747
748
749
750
751
752
753
754
755
756
757
758
759
760
761
762
763
764
765
766
767
768
769
770
771
772
773
774
775
776
777
778
779
780
781
782
783
784
785
786
787
788
789
790
791
792
793
794
795
796
797
798
799
800
801
802
803
804
805
806
807
808
809
810
811
812
813
814
815
816
817
818
819
820
821
822
823
824
825
826
827
828
829
830
831
832
833
834
835
836
837
838
839
840
841
842
843
844
845
846
847
848
849
850
851
852
853
854
855
856
857
858
859
860
861
862
863
864
865
866
867
868
869
870
871
872
873
874
875
876
877
878
879
880
881
882
883
884
885
886
887
888
889
890
891
892
893
894
895
896
897
898
899
900
901
902
903
904
905
906
907
908
909
910
911
912
913
914
915
916
917
918
919
920
921
922
923
924
925
926
927
928
929
930
931
932
933
934
935
936
937
938
939
940
941
942
943
944
945
946
947
948
949
950
951
952
953
954
955
956
957
958
959
960
961
962
963
964
965
966
967
968
969
970
971
972
973
974
975
976
977
978
979
980
981
982
983
984
985
986
987
988
989
990
991
992
993
994
995
996
997
998
999
1000

“দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষা বিশ্লেষণ

চিত্রিতা সিংহ চৌধুরী

॥ ১ ॥

নাটকের সংলাপ হল নাটকীয় চরিত্রগুলির মূখের ভাষা। সংলাপের মাধ্যমে দর্শক বা পাঠক বুঝতে পারেন চরিত্রের মনোভাব। এক্ষেত্রে সংলাপের কাজ দুটি—এক. বক্তার নিজের সম্পর্কে দর্শক / পাঠকের ধারণা সৃষ্টি করা। দুই. অপর চরিত্রের প্রতি মন্তব্য থেকে সেইসব চরিত্রের ধারণা দেওয়া। ট্যাগেডীর ষড়ঙ্গের কথা বলতে গিয়ে অ্যারিস্ততল সংলাপকে (diction^১) রেখেছেন চার নম্বরে—plot, character, thought, diction, melody, spectacle—এই হল তাঁর নির্দেশিত ক্রম। সংলাপ ব্যক্তিরেকেও অভিনয় হতে পারে নাটকের। মূক-অভিনয় অপ্রচলিত নয়। কিন্তু নাটক হল জীবনের দর্পণ। চলমান জীবনের সঙ্গে সমতালে চলতে গেলে নাটককে নির্বাক হলে চলবে না। জীবন তো অজ্ঞান ভাষায় প্রকাশ করে নিজেকে।

ক্রিয়া ও সংলাপ (action and diction)—এই দুয়ের সনিপাতে নাটকের গঠন। প্রাচীন-যুগে নাটকের, বিশেষতঃ ট্যাগেডীর ভাষা ছিল ছন্দোবদ্ধ। তাই নাট্যসংলাপ ছিল পদ্যাশ্রয়ী। কিন্তু ক্রমে নাটকের ভাষা হয়েছে গদ্যাশ্রয়ী। বাস্তবে মানুষ কথা বলে গদ্যে, পদ্যে তো নয়। তাই বাস্তবজীবনের অনুকারী শিল্প নাটকের ভাষাও গদ্যই^২ হওয়া উচিত।

সংস্কৃত নাটকে রাজা ও অভিজাত পুরুষদের মূখের ভাষা ছিল সংস্কৃত। সঙ্গীতের ভাষা ছিল মহারাষ্ট্রী প্রাকৃত, ভদ্রের চরিত্রের ভাষা ছিল মাগধী প্রাকৃত। নাট্যকারের রসসৃষ্টি ও সাহিত্য-দৃষ্টির প্রকাশ যেমন সংলাপের একটি দায়িত্ব তেমনি আরেকটি দায়িত্ব হল স্রষ্টার জীবনবোধের প্রকাশ ঘটানো। নাটকে মূখের ভাষা গদ্য, পদ্য অথবা গদ্য-পদ্য মিশ্রিত হতে পারে।

শেক্সপীর তাঁর নাটকে আবেগময় মূহূর্তে Blank verse ব্যবহার করেছেন। আধুনিককালে টি. এস. এলিয়ট চমৎকার কাব্য-সংলাপী নাটক রচনা করেছেন—‘A Murder in the Cathedral’, ‘The Cocktail Party’, ‘Family Reunion’ তার উদাহরণ। কাব্য-সংলাপী নাটক রবীন্দ্রনাথও লিখেছেন। উনিশ শতকের নাট্যকারদের সামনে কোনো এমন গদ্য-সংলাপী আদর্শ নাটক ছিল না যাকে অনুসরণ করা যায়। তাই স্বাভাবিকভাবেই তাঁরা প্রাচীন সংস্কৃত নাটক

এবং শেক্সপীয়রীয় নাটকের মধ্যে নাট্যাদর্শের সন্ধান করেছিলেন। একারণেই স্কলোপের ক্ষেত্রে সংস্কৃত রীতির প্রভাব এড়াতে উনিশ শতকের অনেক নাট্যকারই ব্যর্থ হয়েছেন।

॥ ২ ॥

সমাজের বিভিন্ন শ্রেণীর মানুষের ভাষা নিয়ে sociolcet তৈরী হয়। শিক্ষিত মানুষ যে ভাষায় কথা বলেন খেটে খাওয়া স্বল্প-শিক্ষিত মানুষ সে-ভাষায় কথা বলে না। আবার একেবারে লেখাপড়া না জানা মানুষের ভাষা আলাদা। একই মূল ভাষাভাষী হলেও বিভিন্ন সামাজিক স্তরে ভাষায় যে পরিবর্তন ঘটেছে তা লক্ষ্য করা সমাজ ভাষাবিজ্ঞানের কাজ।

উনিশ শতকের নাট্যকারদের মধ্যে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষা ব্যবহারে যিনি সবচেয়ে দক্ষ ছিলেন তিন, দীনবন্ধু মিত্র। নাটক ও প্রহসন উভয় ক্ষেত্রেই সমাজভাষাকে নিপুণভাবে তুলে ধরেছেন তিনি।

সংলাপ নাটকের একটি গুরুত্বপূর্ণ বিষয় হলেও তার অতি প্রাধান্য^৩ কাঙ্ক্ষিত নয়। ক্রিয়ার (dramatic action) স্থান সংলাপ গ্রহণ করতে পারে না। দীনবন্ধুর নাটকে সংলাপের আন্তরিক নেই। হয়ত কোনো কোনো চরিত্রের ক্রিয়ার অভাবে মলিন হয়েছে। কিন্তু সেগুলির মধ্যে কোনো তথাকথিত নিম্নশ্রেণীর চরিত্র গড়ে না।

একটি বিশিষ্ট অঞ্চলে বা নির্দিষ্ট অঞ্চলে যে ভাষা ব্যবহৃত হয় তাকে উপভাষা^৪ বলে। একই অঞ্চলে মানব সমাজের স্তরভেদ অনুযায়ী ভাষার তারতম্য ঘটে বলেই উপভাষা থেকে আবার পরিবর্তন ঘটে। সমাজকে যদি বহুতল বাড়ির সঙ্গে তুলনা করা যায় তাহলে বলা যায় যে বিভিন্ন স্তলায় যাওয়ার জন্য যেমন নির্দিষ্ট সিঁড়ি থাকে, সেই সিঁড়ি বেয়ে ইচ্ছে মতো যেকোনো স্তলায় যাওয়া যেতে পারে তেমনি মুখের ভাষার ক্ষেত্রেও বিভিন্ন সামাজিক ভাষা স্তরে মানুষ যাতায়াত করে। একজন সাধারণ মানুষ তার সমপর্যায়ের মানুষের সঙ্গে যে ভাবে ও ভাষায় কথা বলে তার থেকে উচ্চ বা নিম্ন পর্যায়ের মানুষের সঙ্গে সেভাবে কথা বলে না। সমাজ ভাষা নির্ভর করে তিনটি বিষয়ের ওপর : (ক) প্রেরক (sender), (খ) গ্রাহক (receiver), (গ) উপলক্ষ (conditioning factor)। উহাহরণ দেওয়া যাক—‘নীলদর্পণ’ নাটকের ৫ ম অঙ্কের ১-ম দৃশ্যে গোপবিশেষ সার্বদ্রী সম্পর্কে দেওয়ানের কাছে মন্তব্য করছে : “মাগি য্যান্ অন্নপন্নো”, অসংস্কৃত মানুষের সাধুভাষা ব্যবহারের প্রবণতা থেকে হাস্যরসের উপপত্তি ঘটেছে। শিক্ষিত হলে এমন প্রয়োগ সে করত না।

দীনবন্ধুর সাতটি নাটকের মধ্যে তিনখানি প্রহসন—‘স্বধর একাদশী’, ‘ঘিয়ে পাগলা বুড়ো’, ‘জামাই বারিক’। বাকি চারখানি গভীররসের নাটক—‘নীলদর্পণ’, ‘নবীন উপাশিবনী’, ‘লীলাবতী’, ও ‘কমলে কামিনী’। তাঁর নাটকের নিম্নশ্রেণীর চরিত্র সমূহকে এভাবে বিন্যাস করে শ্রেণীবিভক্ত করা যায় (উল্লেখনীয় যে অর্থনৈতিক ও সামাজিক ভিত্তিতে চরিত্রের শ্রেণী নির্ণয় হইবে)।

ভজ্ঞেতর চরিত্র

পুরুষ					নারী	
কৃষক	গ্রাম্য সুরন্দ্র	নীলকর	গোয়াল	ভৃত্য	পাঙ্কীর বাহক (ন. উপ.)	
রায়ভগণ	রতা	উড	গোপ	দামা		
(নীল)	(স. এ.)	(নীল)	(নীল)	(সধবার একাদশী)		
তোরাপ	ভুবন	রোগ		রঘুয়া		
(নীল)	(স. এ.)	(নীল)		(লীলাবতী)		
রাইচরণ	নসীরাম					
(নীল)	(স. এ.)					
সাধুচরণ (নীল)						
পরিচারিকা		ময়রানী	চাষী-বো	গণিকা	ডোম-স্ত্রী	
হাবার মা		পদী	রেবতী	কাঞ্চন	পেঁচোর মা	
(বিয়ে পাগলা বড়ো)		(নীল)	(নীল)	(সধবার একাদশী)	(বি. পা. বন্ধ)	
আদুরি		ভবী	ক্ষেত্রমণি			
(নীল)		(জামাই বারিক)	(নীল)			

‘কমলে কাঞ্চিনী’ নাটকে উল্লেখযোগ্য কোনো নিয়ন্ত্রণের চরিত্র নেই।

একটি বিশেষ আঞ্চলিক ভাষাকে কেন্দ্র করে নাট্যকার সংলাপ সৃষ্টি করতে পারেন। চরিত্র অনুযায়ী মুখের ভাষা কিছুটা বদলে যেতে পারে। সেক্ষেত্রে ছোটোখাটো ত্রুটি বা বিকৃতির জন্য নাট্যকারকে দায়ী করা যায় না। নাট্যকারের দৃষ্টি আর ভাষাবিজ্ঞানীর দৃষ্টি এক নয়। তথাকথিত নিয়ন্ত্রণের চরিত্রের সংলাপ রচনায় দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে ভাষাগত যে ত্রুটি ধরা পড়ে তা তাঁর অশক্তজনিত নয় বরং অবদ্ব্যপত্তি জনিত ত্রুটি বলা যায়। এই দোষ কিছু মারাত্মক বলে গণ্য নয়। তাছাড়া দীনবন্ধু ঘটনার স্থানগত ভৌগোলিক খণ্ডটিনাটি বিবরণ নির্দিষ্ট করে দেননি। ফলে ভাষা শুনে অঞ্চলটি কোন্ জেলার ঠিক কোন্ অংশে অবস্থিত তা অনুমান সাপেক্ষ ব্যাপার। একটি সম্ভাব্য উপভাষার আশ্রয়ে সৃষ্ট এই চাঁ প্রদর্শনের ভাষা কোনো আই ডায়ালেক্ট নয়।

নাট্য সংলাপের ভাষা বিশ্লেষণ প্রসঙ্গে স্মরণ রাখা প্রয়োজন যে শুধুমাত্র ভাষা দিয়েই অভিনেতা বা অভিনেত্রী মনোভাব প্রকাশ করেন না, অঙ্গভঙ্গীর দ্বারাও মনের ভাব প্রকাশ করেন। ভাষা-বিজ্ঞানের ভাষায় একে বলা হয় paralinguage। কণ্ঠস্বরের ওঠানামা স্বারাও বিশেষ বিশেষ ভাব বোঝানো হয়। কিন্তু ভাষা বিশ্লেষণের ক্ষেত্রে এগুলিকে নেওকা হচ্ছে না।

নিম্নশ্রেণীর চরিত্র কাদের বলা যাবে? নাটক জীবনেরই আর এক নাম। আমাদের পরিচিত জগতে বিভিন্ন শ্রেণীর মানুষ রয়েছে। দোষে গুণে মিশিয়ে মানুষ। দোষে গুণে মিশিয়ে নাটকের চরিত্র। চরিত্রের শ্রেণী নির্ণয়ের মানদণ্ড কী হবে—বিস্ত অথবা বৃত্ত, সমাজে প্রতিষ্ঠা অথবা চরিত্রের মানসিকতা?

বিস্তের ভিত্তিতে যেমন সমাজে তিনটি শ্রেণী—ধনী, দরিদ্র ও মধ্যবিত্ত; বৃত্তের ভিত্তিতে তেমন দুটি সম্প্রদায়—বৃদ্ধজীবী ও শ্রমজীবী। আবার কায়িক শ্রমের সঙ্গে ব্যারাকনার দেহোপ-জীবিকাকে এক করা যায় না। প্রথমটির সামাজিক স্বীকৃতি আছে, দ্বিতীয়টির নেই। অশিক্ষিত ব্যক্তির অর্থকৌলিন্য না থাকলে তার সামাজিক প্রতিষ্ঠাও থাকে না। শূন্য আর্থিক বা শূন্য সামাজিক দিক থেকে চরিত্রকে উচ্চ বা নিম্ন শ্রেণীতে ফেলা যায় না। আর্থসামাজিক দিক থেকে তার মানদণ্ড নিরূপিত হয়। সাধারণতঃ ভৃত্য, দাসী, বাবুর্চি, আদালি, ভিক্কুক, কৃষক, ছোটখাটো দোকানদার, শ্রমিক, বারবানতা, ফেরিওয়াল, ...এরাই নাটকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র। একটি ভদ্র পরিবারের শিক্ষিত বেকার সন্তান যদি মাথায় জিনিস নিয়ে রাস্তায় ফেরী করে তাহলেও যেমন তাকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র বলা যাবেনা তেমন মানসিকতার দিক থেকে যথেষ্ট উন্নত চাষীকেও বলা যাবেনা উচ্চশ্রেণীর চরিত্র। অর্থাৎ চরিত্রের উৎস পরিবারও এক্ষেত্রে গণণীয়। একটি সভ্য দেশের মানুষ হয়ে নীলকর সাহেবরা যে বর্বরোচিত অত্যাচার করেছে তার ফলে নাটকে তাদের নিম্নশ্রেণীর চরিত্র সাব্যস্ত করা হয়েছে। আবার অকর্মণ্য গুলিখোর হলেও জমিদারের ঘরজামাইকে নিম্ন শ্রেণীতে ফেলা হয়নি। অর্থাৎ চরিত্রগুলিকে একই সঙ্গে তাদের সামাজিক, অর্থনৈতিক, সাংস্কৃতিক দিক দিয়ে অবস্থানগত তারতম্য বিচার করে শ্রেণীগত বিশেষণ দিতে হয়েছে।

মানুষের সাথ ও সাথের মধ্যে, চাওয়া ও পাওয়ার মধ্যে, সর্বোপরি জীবনের স্বপ্নসুন্দর কল্পনা এবং রুঢ় বাস্তবের মধ্যে যে দ্বন্দ্ব (inner conflict) নিরন্তর সক্রিয় রূপ পরিগ্রহ করে ব্যক্তির সত্য আত্মপ্রকাশ করে তাই নাটকীয় চরিত্র। এর যাবতীয় বোধকে ভাষা দেয় সংলাপ। একই ভাষাভাষী নাট্যচরিত্রগুলির মধ্যেও সমাজ ভাষাগত ব্যবধান থেকে যায়। সমাজ ভাষার (sociolect) বৈশিষ্ট্য থেকে চরিত্রের সামাজিক অবস্থান বোঝা যায়। তেমন উপভাষা থেকে অণুর্ভাষা জ্ঞান যায় শূন্যমাত্র সংলাপ পর্যালোচনা করেই চরিত্রগুলি স্বাতন্ত্র্য নিরূপণ করা চলে। এমনকি ব্যক্তিস্বাতন্ত্র্যবাদে বিশ্বাসী হলে নাট্যকার জনগণের মুখেও বৈশিষ্ট্য যুক্ত ভাষা বসাতে পারেন। সেক্ষেত্রে জনতার ভাষা এক হলেও প্রয়োগরীতি আলাদা হবে।

দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে স্বেসব দৃশ্যে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের সংলাপ রয়েছে তার পরিসংখ্যান নিলে দেখা যায় :

নাটক	নিম্নবর্ণের ভাষা (অঙ্ক / দৃশ্য)
নীলদর্পণ	১/১, ১/২, ২/১, ২/৩, ৩/১, ৩/৩, ৫/৩, ৫/৩

নবীন ভূপাশ্বিনী	১/১, ১/২
বিয়ে পাগলা বৃড়ো	১/১, ১/২, ৩/৩, ২/২, ২/৩
সধবার একাদশী	১/২, ২/৩, ৩/১, ৩/২, ৩/৩
লীলাবতী	১/১, ১/২, ৩/১, ৩/৩
জামাই বারিক	১/১, ১/২, ১/৩, ২/১, ২/২, ২/৩, ৩/১, ৩/২, ৪/৩

॥ ৪ ॥

কথা দিয়ে যা বোঝানো যায় না গান দিয়ে তা জানানো যায়। নাটকে গানের ব্যবহার dramatic relief-এর প্রয়োজনেই যে শূন্য হয় তা নয়, অভিনয়কে অর্থবহ করে তুলতেও সঙ্গীত সমুদ্যোগী। দুরকমভাবে গানের ব্যবহার করা যেতে পারে—এক. মঞ্চে চরিত্রের কণ্ঠে গাওয়া গান, দুই. নেপথ্য সঙ্গীত। গ্রীক নাটকে কোরাসের গুরুত্বপূর্ণ ভূমিকা ছিল। নাটক শূন্য হওয়ার পর গান গেলে কোরাস মঞ্চে প্রবেশ করত (parode)। কোরাস অবতীর্ণ হওয়ার আগে নাটকের কিছুর অংশ অভিনীত হয়ে যেত (prologue)। দুটি কোরাস গানের মধ্যের অভিনীত নাট্যাংশ হল episode। নাটক শেষ হওয়ার আগে কোরাস একটি গান গায় (exode)। শেষ গানের পরের নাট্যাংশ হল epilogue। কোরাসের সব গান এক ধরনের নয়—দুঃখের ও আনন্দের দুরকম গানই আছে।

মূল নাটকে গান না থাকলেও মঞ্চে অভিনয়ের সময় পরিচালক দর্শকমনোরঞ্জনের জন্য গান জুড়ে দেন। যেমন—দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে অথবা গীতবাহুল্য নেই। কিন্তু রঙ্গালয়ের সাধারণ দর্শকদের রুচির কথা ভেবে ‘সধবার একাদশী’ প্রহসনে একটি প্রস্তাবনা ও কয়েকটি গান জুড়ে দিয়েছিলেন।^৬ প্রধানত রঙ্গমঞ্চে আশ্রয়ী নাটকেই নাচগান বেশী থাকে। উর্বিশ শতকের দর্শকরুচিকে তোষণ করতে গিয়ে নাট্যকারদের সঙ্গীতের প্রতি মনোযোগী হতে হয়েছিল। দিনবন্ধু মিত্র সম্ভাব্য ক্ষেত্রেও অনেক সময় সঙ্গীত ব্যবহার করেন নি। কেবলমাত্র সমকালীন রসপিপাসুর কথা ভাবতে গেলে নাট্যকারকে সঙ্গীতপ্রীতির প্রাবল্য পরিত্যাগ করতেই হয়। গানের বাড়াবাড়ি নাটককে ক্ষুণ্ণ করে তাকে অপেরাধর্মী করে তোলে।

‘নীলদর্পন’-এ একটি দুই চরণের নেপথ্যগীত ছাড়া আর কোনো গান নেই—

“বধন ক্ষাতে ক্ষাতে বসে ধান কাটি।

মোর মনে জাগে, ও তার লয়ান ছুটি ॥ (২/৩)

পদী ময়রানীকে উদ্দেশ্য করে এ গান গাওয়া। এর আগেই পদী বলেছে—“...আমার কি গায়ে বেরোবার জো আছে, পাড়ার ছেলে আটকুড়ি বেটারা আমারে দেখলে যেন’ কাকের পিছনে ফিস্কে লাগে” (২/৩)। ‘লীলাবতী’ নাটকে মোট তিনটি গানের মধ্যে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের মূখে একটি গান। ভৃত্য রঘুয়ার কণ্ঠে ওড়িয়া গীত :

‘মতে ছাড়ি দে বাট মোহন ।
 ছাড়ি দেলে জিবি মথুরা হাট,
 মোহন ! রাখামোহন !
 মাতাংক শপথ পিতাংক বাণ,
 নেউটনি দেবি পীরতি দান, মোহন !
 বাট ছাড়ি দিও নন্দকিশোর,
 আছিল হেউচি গোরস মোর মোহন ।’ (৩/৩)

বঙ্গানুবাদ : মাধব, আমার পথ ছেড়ে দাও । আমি মথুরার হাটে যাব । আমি বাপ-মায়ের দাঁশ্ব দাঁছি ফিরে এসে তোমার ইচ্ছাপূরণ করব । ভাগ্নে কানাই, আমি তোমার মামী । পথ ছাড় । দুধের জিনিস সব নষ্ট হয়ে যাচ্ছে ।

‘সম্ভবার একাদশী’তে গণিকা কাণ্ডের কণ্ঠে একটি গান রয়েছে । ‘জামাই বারিক’-এ হাবার মার গাওয়া একটি গান আছে । ‘নীলদর্পণ’-এর আদুরী, ‘বিয়ে পাগলা বুড়ো’র পেঁচোর মা গান গায়নি বটে কিন্তু এই তিনটি চরিত্র একই মানসিকতার ।

রঙ্গমঞ্চে সঙ্গীত কিছু দর্শককে আকৃষ্ট করে বটে কিন্তু সামাজিক প্রহসন এবং বাস্তবজীবন অবলম্বী নাটকে গান নাট্য-বাস্তবতা ক্ষুণ্ণ করে । অবশ্য নাটকেরই কোনো চরিত্র যদি অপর চরিত্রকে গান গাইতে অনুরোধ করে সেক্ষেত্রে গান চলতে পারে তবে তারও একটা মাত্রা থাকে প্রয়োজন । সঙ্গীতের স্বরূপ ব্যবহারের জন্য দীনবন্ধু মিত্রের নাটকে বাস্তবতা অক্ষুণ্ণ থেকেছে ।

॥ ৫ ॥

মুখের ভাষায় প্রবাদ-প্রবচনের ব্যবহার বেশী লক্ষণীয় বৃদ্ধ-বৃদ্ধাদের মধ্যে এবং অশিক্ষিত বা অর্ধশিক্ষিত শ্রমজীবী মানুষের মধ্যে । দীনবন্ধু তাঁর নাটক-প্রহসনে প্রবাদ-প্রবচন ছড়া ব্যবহার করে তাকে প্রাণবন্ত করে তুলেছেন । এমনকি ব্যক্তির নিজভাষা (idiolect) প্রবাদ-ছড়া ইত্যাদিকে প্রভাবিত করেছে । যেমন—‘নীলদর্পণ’-এর তোরাপ বলে :

‘বারালচোকো হাঁদা হেমদো ।
 নীলকুটির নীল মেমদো ॥ (২/১ পৃ. ১৬ / দী. র. / স্ব. স্বরতা প্রকাশন)

শিষ্ট চলিত বাংলায় এটির রূপ হওয়া উচিত :

‘বেড়ালচোখো হাঁদা হেমদো ।
 নীলকুটির নীল মামদো ॥”

সচরাচর তোরাপ ‘মেমদো’ নয় ‘মামদো’ (= মহমদীয় তৃত) বলে । ছড়ায় ‘হেমদো’-র সাদৃশ্যে ‘মেমদো’ হয়েছে ।

‘সংবাদ প্রভাকর’ পত্রিকায় যে ‘কালজীবী ছাত্রদিগের কবিতাবৃদ্ধ’ চলিত তার দীনবন্ধুজ্ঞাত পরিগাম নাটকে ব্যবহৃত ছড়াগুলি । তাঁর নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের সংলাপে প্রচুর প্রবাদ ছড়া রয়েছে :

॥ ১ ॥ পুঁইচে কি এত ভারী রে প্রাণ
 পুঁইচে কি এত ভারি ।
 মনের মত হলি পরে বাউ পরাতি পারি ॥ (আছরি/নীলদর্পণ/১/৪ পৃ. ১১/স্ব. প্র.)

॥ ২ ॥ ষণন যদি ফলে ।

ঝোলবো তানার গলে ॥

... ..

নোকের মুকি দিয়ে ছাই

আতি দিনি শুয়োর খাই ॥ (পেঁচোর মা/বিয়ে পাগলা বুড়ো/১-৩ পৃ. ১৩৭/খা. প্র.)

॥ ৩ ॥ কামিনী, নাতিনী, সতিনী আমার তুই

তোর ঠাকুর্দাদার রেখে মাঝে তিন জনাতে শুই ॥

(জামাই বারিক / তবি / ১-২ পৃ. ২৮৮ / খা. প্র.)

॥ ৪ ॥ ময়না ময়না ময়না

সতীন যেন হয় না । (হাবার মা / জামাই বারিক / ১-২ পৃ. ২৯১ / খা. প্র.)

॥ ৬ ॥

নীলকর সাহেবদের অত্যাচারে জর্জরিত স্বল্পপুত্র গ্রামের বর্ষাক্ষু কৃষক পরিবার-বন্দুপরিবার এবং স্বল্পপিত্ত কৃষক সাধুচরণের পরিবার এই দুয়ের করুণ পরিণতি সমান্তরালভাবে দেখানো হয়েছে নাট্যবিষয়রূপে। নীলকরদের বিরুদ্ধে মামলা করেও শোষিত চাষীরা কোনো ফল পান না। এদের পাশে এসে দাঁড়ান গোলক বন্দুর বড় ছেলে নবীন-মাধব সাহেবদের হাতে প্রচণ্ড প্রহৃত হয়ে প্রাণ হারান। কারাগারে উৎসর্গ করে আত্মহত্যা করেন গোলক বন্দু। রোগ সাহেবের অত্যাচারে সন্তানসম্ভবা ক্ষেত্রমাণের মৃত্যু হয়। শোকে পাগল হয়ে বন্দুজামা সার্বদ্রী পুত্রবধু সরলতাকে হত্যা করে নিজেও মারা যান। বন্দু পরিবারের তিনজন মাত্র বেঁচে রইল—ছোটছেলে বিন্দুমাধব, বড়বো সৈরিন্দ্রী এবং তার সন্তান-বিপিন।

এই নাটকের পরিণামগত এবং উপস্থাপনাগত দুটি ঘটাই হোক না কেন নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের সংলাপের জোরে উৎরে গেছে তা। এভাষা যেমন বহু প্রশংসিত তেমন বহু নির্মিত।^১ তোরাপ, আদারি ও পদী ময়রানীমাই নাটককে জীবন্ত করে তুলেছে। এই নাটকের তথাকথিত নিম্নশ্রেণীর চরিত্র হল: তোরাপ, রাইচরণ, সাধুচরণ, লেঠেল, চাষী, আদারি, পদী, রেবতী, ক্ষেত্রমাণ, গোপ এবং নীলকর সাহেবরা। ভাষা বিশ্লেষণের সুবিধার জন্য আমরা এদের ভাষাকে দু'ভাগে ভাগ করা দরকার মনে করি—নারীর ভাষা এবং পুরুষের ভাষা।

পুরুষের ভাষার সাধারণ বৈশিষ্ট্য

ধ্বনিতাত্ত্বিক বৈশিষ্ট্য

১. এ (e) > অ্যা (æ) ; ছেলে > ছ্যালে (chele > chæle), পেরেক > প্যারেক (perék > paerek) ।
২. ল (l) > ন (n) ; লড়াই > নড়াই (lɔrai > noɾui), লোক > লোক (lok > nok) ।
৩. ষ > য় (j > jh) ; যে > য়ে (je > jhe) ।
৪. র (r) > অ (ɔ) ; রাম > অাম (ram > am) ; রক্ত > অক্ত (r ɔ kto > ɔ kto) ।

৫. ত (t) > থ (th) ; গাথবার > গাতিবার (gyathbar > gyatbar)
৬. ছ (ch) > চ (c) ; নছেচে (nocece) ।
৭. ড় (r) > র (r) ; থাপ্পোর (thappor)
৮. ধ (dh) > দ (d) ; কাধে > কাঁদে (kyadhe > kyade)
৯. ড (d) > ট (t) ; চাবালিডে (cabalide)
১০. স্বরধ্বনি লোপ ; অম্‌সা < তামাসা (a > φ) । ব্যঞ্জনধ্বনি লোপ ; মরলাম > মলাম (r > φ) ।

রূপভঙ্গগত বৈশিষ্ট্য

১. অসমাপিকা ক্রিয়ায় -ইয়ে > -এ (ie > e) ; বাঁচিয়ে > বেঁচেয়ে (byacie > byece) ; পালিয়ে > পেলেয়ে (palie > fele) ।
২. -ইতে অন্তক অসমাপিকা ক্রিয়ায় -তি প্রত্যয় ব্যবহার । যেমন, খাতি (> খাইতে), যাতি (> যাইতে), নাতি (> নাইতে) ।
৩. গৌণ কর্মে '-রে' বিভক্তির ব্যবহার । যেমন—মোরে (more), বৃড়ির (বৃড়িরে > বৃড়ির → স্বরসঙ্গতি) ।
৪. কর্তৃকারকে উত্তমপুরুষ আমি > মুই (ami > mui) । কর্তায় '-এ' বিভক্তি (-e > -i) ; যেমন নীল > নীলে > নীলি (nil > nile > nili) ।
৫. 'থেকে' অনুসর্গের পরিবর্তে 'হতে' অনুসর্গের ব্যবহার ।
৬. সমাপিকা ক্রিয়ায় -ইয়াছিলাম, -ইয়াছিলে, -ইয়াছিল, বা -ইয়াছি, -ইয়াছ, -ইয়াছে-র বদলে -ইয়েলাম / -এলাম, -ইয়েল / -য়েল প্রত্যয় ব্যবহার । যেমন—ধরেলাম (dhorelam), গিয়েলাম (gielam) ।
৭. তুলনামূলকভাবে অর্ধতঃসম বা ভগ্নতঃসম এবং ভগ্নবিদেশী শব্দের ব্যবহার বেশী । যেমন—অন্নপুত্রো, শরীল, মাচেরটক (= ম্যাজিস্ট্রেট), গারনাল (= গবর্নমেন্ট), ... ।
৮. যেন > য্যান্ শব্দের বহুল ব্যবহার ।
৯. ইড়িয়াম ব্যবহার—বোঁটা মারা, বেপালটে পড়া, হ্যাল মারা, চূপ দে, কাজ মারা, দাদন গাদা, জাঁম তোলা ইত্যাদি ।
১০. সম্বন্ধ পদ উত্তমপুরুষে আমা > মো (ama > mo-) ; মোদের, মোর, মোরে, ... ।

অঙ্কগত বৈশিষ্ট্য

প্রচলিত ব্যাকরণ অনুসারে বাংলা বাক্যের চারটি শ্রেণী :

- (ক) সরল বাক্য (simple sentence)^৮
- (খ) যৌগিক বাক্য (compound sentence)^৯
- (গ) জটিল বাক্য (complex sentence)^{১০}

(ঘ) জটিল-যোগক বাক্য (compound-complex sentence)^{১১}

পদগুচ্ছ সংগঠন সূত্র^{১২} অনুসারে বাংলা বাক্যকে দু'টি শ্রেণীতে বিভক্ত করা যায় :

(ক) সরল বাক্য (single clause structure)

(খ) অ-সরল বাক্য (poly-clause structure)

P.R.S. অনুযায়ী বাক্য বিভাজনের ক্ষেত্রে নিম্নলিখিত ধারা অনুসৃত হবে :

S = sentence = NP + VP

= NP sing } (Noun Pharse)
NP plu }

VP = Verb + NP

NP sing = T + N

NP plu = T + N + . 's

T = Article

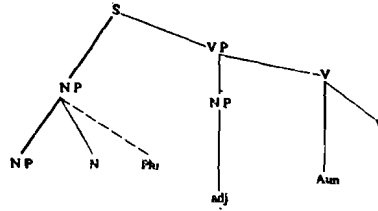
N = any noun

V = any verb

Verb = Aux + V

Aux = Tense (+ M, + have, + en, + be, + ing, + ...)

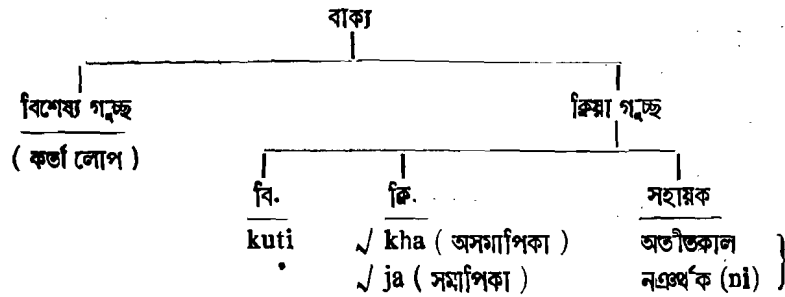
M = mode (will, can, may, shall, ...)



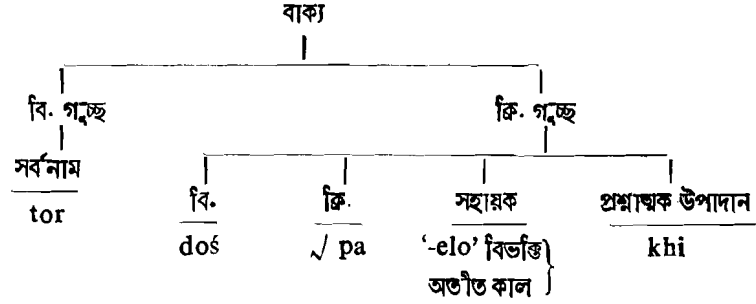
বাংলা ভাষার ক্ষেত্রে বাংলা ব্যাকরণের নিয়মানুসারে ক্রিয়া গঠিত হবে।

সরল বাক্য : 'কুটি খাতি যাই নি' [(২/১)-(তোরাপ)]

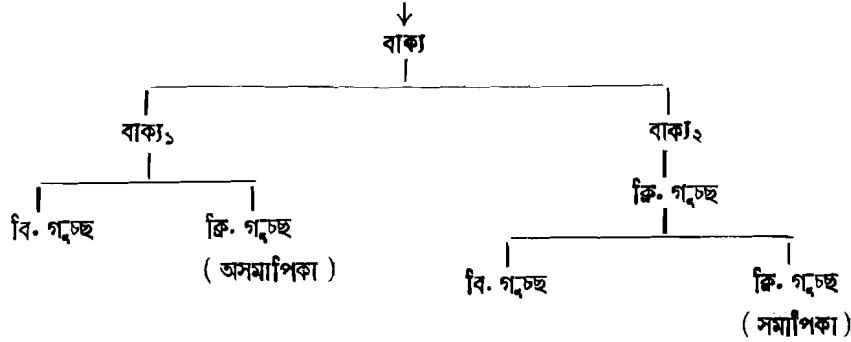
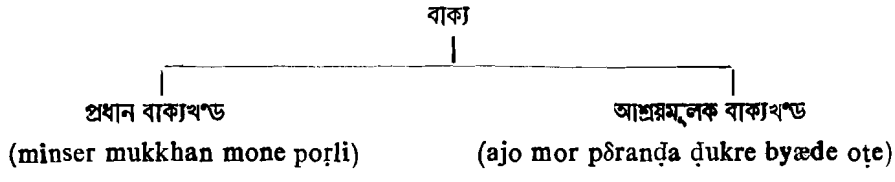
(=kuti khati jai ni)



প্রশ্নবোধক বাক্য : 'তোমর দোষ পেয়েলো কি ?' [(২'১) তোরাপ]
(→tor doś peelo ki ?)



অ-সরল বাক্য : 'মিন্‌সের মুখখান মনে পড়লি আজো মোর পরাণডা ডুক্রে ক্যাদে ওটে ।
(১/৪—আদর্শ)
(=minser mukkhan mone porli ajo mor pðranða ðukre kyæde ote)



তোরাপের সংলাপে ব্যবহৃত বিশিষ্ট শব্দ : নেমোখ্যারামি, ঝা, ঝে, বে'চ'য়ে, নোঁগাচি, মিথো, কখনই, লো (=লহু=রক্ত), থাপ্পার, ঝাকি (=মারি), হ্যাংনামা (=হাস্যামা), মাচেরটক (ম্যাজস্ট্রেট), বেলাত, গারনাল (=গবর্নমেন্ট), মেইস্পার, লাব (=নাম), পুছকরি (=জিজ্ঞাসা করি), মামির ভাই (=মারনীর ভাই), সর্মিন্দ, কোমেট (=কর্মিটি), নেয়েত (=রায়ত), হিরিভিত্তি, ... ।

অন্যান্য চাষীদের ভাষায় ব্যবহৃত শব্দ : ঘ্যান বিদেকাটি, শালা, মাগছোলে, প্যাশ, ভুই, তবাদি, ঝোজানি, জামা (=জামাই), চকি (=চোখে), যাতি, নাতি, ফোজদুরি, কাঞ্জি কাঞ্জিই,

বেইরে, এ'ড়ে, নড়ুই, ছেড়াছোড়ি, হাল (=হাল), প্যট, কলাম, ন্যাঙ্গ, দাকড়া, ধলা, তাহসা, কেচরি, ... ।

ভোরাপের ভাষার বৈশিষ্ট্য

১. ষ>ঝ (j>jh)
২. ড>র (r>r)
৩. 'সমিন্দ' শব্দের প্রয়োগের প্রতি ঝোক
৪. গালগাল দেওয়ার প্রবণতা
৫. আবাঁ ফাসাঁ শব্দের ব্যবহার (পানি, নাঁছব, জোরা, আসমান, কসম, ...)

এই বৈশিষ্ট্যগুলিই ভোরাপের idiolect বা তাকে চিহ্নিত করে দেয়। এখানে ভোরাপের ভাষার নমুনা দেওয়া হলো :

ভোরাপ। ভাল মানসির ছাবাল—মুই কথার জানাত পেরোঁছ—পরশে চাচা মোরে কাঁদে কতি পারিস, মুই বরকা দিয়ে ওরে পুছ করি বাড়ি ক—(২/১)

মান্য চলিত বাংলায় এর রূপ হবে :

'আমি কথা শুনে বুঝোঁছ, ভালো মানুষের ছেলে—পরশ চাচা আমার কাঁখে নিতে পারিস, আমি বলবুলি দিয়ে ওকে জিজ্ঞাসা করি ওর বাড়ি কোথায় ।'

নারীর ভাষা

ভোরাপের মধ্যে আন্দুরীর ভাষাও একেবারে নিজভাষা। এ-ভাষার বৈশিষ্ট্য :

১. র>জ (রানী>আনী)
২. ল>ন (লোক>নোক)
৩. ট>ড (পরাণটা>পরাণতা)
৪. ঠ>দ (গম্ব>গোন্দো)

আন্দুরী বলে : 'ছোট হালদার্নি, সে খয়দের কথা আর তুলিস নে। কিন্দের মুখখানা মনে পড়লি আতো মোর পরাণটা ডুকরে কেঁদে ওটে। মোরে কড়ি ভালবাসতা। মোরে বাউ দিতে চেয়েলো ।' (১/৪)

মা. চ. বা. → 'ছোট হালদার্নি, সেই খেদের কথা আর তুলিস না। কিন্দের মুখখানা মনে পড়লে আমার প্রাণটা ডুকরে কেঁদে ওটে। আমার বস্ত ভালবাসত। বাউটি দিতে চেয়েছিল আমার ।'

নাট্যকার স্বেচ্ছাপ্রণয়িত ভাবেই একই সমাজের একই ভাষাভাষী চরিত্রের ক্ষেত্রেও বৈশিষ্ট্য বজায় রেখেছেন ব্যক্তিগতভাবে। অর্থাৎ sociolect ব্যক্তির ক্ষেত্রে দাঁড়াচ্ছে idiolect ।

গ্রাম্য নারীচরিত্রের ভাষা

- (ক) বাঁটি আঞ্চলিক ভাষার রূপটি মেলে ;
- (খ) ঘরোয়া গালাগালের প্রাচুর্য লক্ষণীয় ; (পদীর ব্যবহৃত গালি)

(গ) বিস্ময়সূচক শব্দের ব্যবহার বেশী (মাগো, মা, গাড়া কাটা দিয়ে ওটচে, ...)

(ঘ) প্রবাদ প্রবচনের ব্যবহার বেশী

(ঙ) আচার সংস্কার প্রাসঙ্গিক তথ্য জানা যায় (“মুই কি হিঁদুর মেয়ে হয়ে সাহেবের জল খাত্ত পারি” ৩/৩)।

রেবতী ও ক্ষেত্রমণির ভাষা একইরকম আবার পদীময়রানীর কথাবার্তা কিছুটা মার্জিত। কারণ সে চাষীর বোঁ বা চাষীর মেয়ে নয়।

রেবতী ও ক্ষেত্রমণির ভাষা কিছুটা আদুরীর সঙ্গে মেলে। তারা কেউ পদীময়রানীর মতো অপ্রতিরোধ্য ও স্বতঃস্ফূর্তভাবে গালাগালি দেয় না আবার ক্রিমার শব্দধরুপও ব্যবহার করে না। পদীর চরিত্র ফুটে উঠেছে তার বিগলিত গালাগালি ব্যবহারে : ‘অটকুড়ির বেটা’, ‘বুনো’, ‘ড্যাকরা’, ‘ভাতার খাগীর ভাতার’, ‘কালামুখ’, ‘যমের বাড়ি’, ‘তোমার মা বনের ধরুক’, ...। চাষীর মেয়ে, বোঁ বলে ‘এনোলো’ পদী বলে ‘এনোছিল’ (২/৩ পৃ. ২০/স্বা. প্র.)। ‘ঘেন্না’ না বলে সে ‘ঘুগা’ উচ্চারণ করে (২/৩ পৃ. ২০ / স্বা. প্র.)। অন্যান্যদের মতো সেও গোপন কর্মে ‘-রে’ বিভক্তি দেয়। পদীর ভাষার নমুনা :

“আমিন অটকুড়ির বেটাই তো দেশ মজাচ্ছে। আমার কি সাধ, কাঁচ মেয়ে সাহেবেরে ধরে দিয়ে আপনার পায় আপনি কুড়ুল মারি—রেয়ে যে খেঁটে এনোছিল, সাধুদাদা না ধরলিই জন্মের মত ভাত কাপড় দিত—...” (২/৩)

খেঁটে → খুঁটি > খুঁটে > খেঁটে = বেঁটে মোটা লাঠি।

তিনটি নাটক দৃশ্যে ক্ষেত্রমণিকে দেখা গেছে। প্রথমটিতে (ক) (১/৪) সে লক্ষ্মীশীলা বধু, দ্বিতীয় দৃশ্যে (খ) (৩/৩) লক্ষ্মীশীল সন্দ্রম অত্যাচারিতা নারী এবং তৃতীয়টি (গ) (৫/৩) তার মৃত্যু দৃশ্য।

(ক) “মোর ঝাপটা দেখে মোর ভাসুর বড় খাপা হয়েলো, ঠাকুরদাদার বন্ধে ঝাপটা কাটা কসবদের আর বড়লোকের মেয়েগার সাজে। মুই শূনে লক্ষ্মায় মরে গ্যালাম, সেই দিন ঝাপটা তুলে ফ্যাললাম্।” (১/৪)

মা. চ. বা. → [আমার ঝাপটা দেখে আমার ভাসুর বড় ক্ষেপে গিয়েছিল (/ গিয়েছিলেন), ঠাকুরদাদাকে বলল (/ বললেন) ঝাপটা কাটা বেশ্যাদের আর বড়লোকের মেয়েদের সাজে। আমি শূনে লক্ষ্মায় মরে গেলাম, সেইদিনই ঝাপটা তুলে ফেললাম।]

(খ) “ময়রা পিসি যাস্ নে, ময়রা পিসি যাস্ নে। মোরে কালসাপের গত্তের মাঁধ্য একা রেখে গেলি, মোর যে ভয় করে, মুই যে কাঁপতি লেগেছি, মোর যে ভয়েতে গা ঘুরতি লেগেচে, মোর মুখ যে তেঁটায় ধুলো বেটে গেল।” (৩/৩)

মা. চ. বা. → [যাস্ না ময়রাপিসি, যাস্ না। আমায় কালসাপের গত্তের মধ্যে একা রেখে গেলি, আমার যে ভয় করছে, আমি যে কাঁপতে শুরুর করেছি, ভয়ে আমার গা ঘুরছে, তেঁটায় মুখ শুকিয়ে গেল।]

(গ) “স্যাঁকুলির কাটা ফোটচে, মরি গ্যালাম, মারে মলাম রে বাবার দিগি ফিরিয়ে দে।” (৫/৩)

মা. চ. বা. → [বিছানার কাটা ফুটেছে, মাগো, মরে গেলাম, বাবার দিকে ফিরিলে দাও ।]

তিনটি মা. চ. বা. রূপান্তরের কোনোটাই ক্ষেত্রমণির ভাষার যথযথতা রক্ষায় সমর্থ নয় ।

॥ ৭ ॥

বিয়ে পাগলা বুড়ো

বিপ্লবীক বৃদ্ধ রাজীবলোচন মুখোপাধ্যায় অত্যন্ত কঞ্জুস এবং ধনী ব্যক্তি । বুড়ো বয়সে বিয়ে করার জন্য তিনি ক্ষেপে উঠেছেন । ঘটক চাঁপা নামের এক সুন্দরী কিশোরীর সঙ্গে তাঁর বিয়ের ঠিক করে । পাড়ার ছেলেরা বুড়োকে জশ্দ করার জন্য রতা নাপিতকে কনে সাজায় । কাড়ি এসে বোয়ের ঘোমটা খুলে রাজীব দেখেন পেঁচোর মাকে । বাবার বিয়ে শুনে দুই বিশ্বা কন্যা রামমাণি ও গোরমাণি আশংকা হয়েছিল পরে মিছে বিয়ে শুনে তারা খুশী হল—“বেশ হয়েছে, মিছে বিয়ে হলো আমরা টাকা পেলুম ।” বিয়ে পাগলা বুড়োর উচিত শিক্ষা হল ।

এই প্রহসনে নিম্নশ্রেণীর চরিত্রসমূহ : রতা, ভুবন, নসিরাম এবং পেঁচোর মা ।

অর্থনৈতিক ও সামাজিক দিক থেকে নিম্নবর্ণের হলেও পদ্রুঘ চরিত্রগুলি লেখাপড়া জানে । সুতরাং ভদ্রজনোচিত ভাষা ব্যবহারই তাদের পক্ষে স্বাভাবিক । বৃদ্ধা ডোমনী পেঁচোর মায়ের ভাষা তার মুখে বেশ মানিয়ে গেছে । উদাহরণ দিলে দেখা যাবে—

(ক) “দ্যাল সাক্কি—মোরে যান বুড়ো বামন বে কচে, মূই যান্ ওনার কোলে ছেলে দিচ্চি ।” (১/৩)

(খ) “ডুম্নি বাম্নিতি শুপাতটা কি ? তোমারাও প্যাট জ্বলে উটলি খাত চাও, মোরাও প্যাট জ্বলি উটলি খাত চাই, তোমরাও গালাগালি দিলি আগ কর, মোরাও গালাগালি দিলি আগ করি, তোমার বাবা মরিলেও বুকি বাশ, মূই মলিও বুকি বাশ, তাঁনারও দাঁত পড়েছে, মোরও দাঁত পড়েছে, তবে মূই কোম্ হলাম কিসি ?” (১/৩)

যশোর জেলার ভাষা অবিকল পেঁচোর মার মুখে বসানো হয়েছে । কিন্তু কোথাও স্থলন ঘটেছে । দ্বিতীয় উদ্ভৃতির (খ) ‘জ্বলে’ এবং ‘মরিলেও’ শব্দের যথাক্রমে হওয়া উচিত ছিল ‘জ্বলি’ এবং ‘মরিলেও’ ।

সংলাপের ধ্বনি ব্যবহারগত বৈশিষ্ট্য

(ক) স্বরসঙ্গতির ফলে u > o, e > i যেমন—*suor* > *sor* ; *bamnite* > *bamniti* ।

(খ) r > ɹ যেমন—*rag* > *ag* ।

(গ) e > æ যেমন—*pet* > *pæt* ; *chele* > *chæle* ।

(ঘ) th > t যেমন—*uthli* > *utli* ।

(ঙ) t > d যেমন—*chanata* > *chanaða* ।

(চ) স্বরভাঙের ব্যবহার (Anaptyxis) । যেমন—*ššpno* > *ššpon* ।

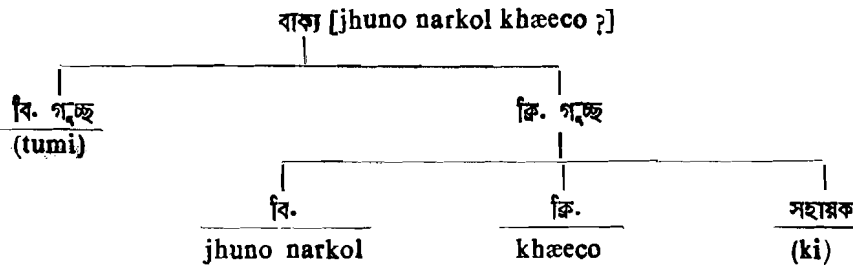
(ছ) C > ch যেমন—*pholeche* > *pholece* ।

রূপভিত্তিক বৈশিষ্ট্য

- (ক) অসমাপিকা ক্রিয়ার 'ই' (i)-অন্তক পদ ব্যবহার। যেমন—khati, nati।
 (খ) উত্তমপদরূষ সর্বনাম—mui/mora।
 (গ) গৌণকর্মে -রে বিভক্তি। যেমন—more, edre।
 (ঘ) সমাপিকা ক্রিয়ার—অ্যালাম, -ইয়েলাম বিভক্তি। যেমন—dielam, gælam।
 (ঙ) সামান্য অতীতে '-লে' বিভক্তি। যেমন—pðrale, dele।
 (চ) সম্বন্ধ পদে তাঁর > তানার (tyar > tyanar)।

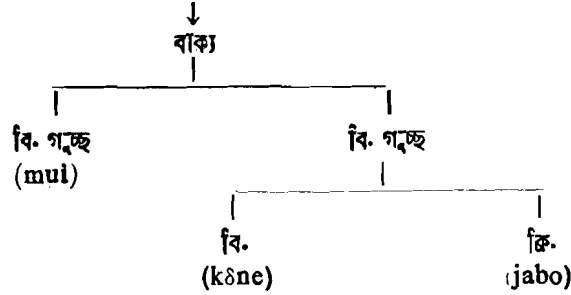
অর্থগত বৈশিষ্ট্য

সরল বাক্য (প্রশ্নাত্মক) → সুনো নেরকোল খ্যারেচো ? (১/০)



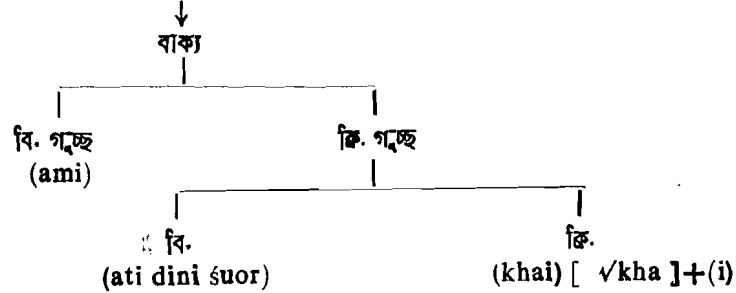
বিশ্বস্তরবোধক বাক্য → “ও মা ! মূই কনে বাব ?” (২/০)

-----→ O ma ! mui kðne jabo ?



নির্দেশক বাক্য → “আতি দিনি শুরোর খাই।” (১/০)

-----→ ati dini suor khai.



পুরুষ চরিত্রের ভাষা বিশ্লেষণ

- (ক) রতা : কাল ব্যাটার ভারি নাকাল করিচি—দশ গড়া কাগের ডিমের শাসি ওর মাথায় ছেল
দিইচি। (১/১)
- (খ) নসি : কলিকাতায় ছাত্রেরা পরীক্ষার পর বিল্বর্টের বাজি দেয়। আমরা পরীক্ষার পর রাজীব
মুখুয়ের বাজি দেব। (১/১)
- (গ) গোপাল : যদি কেহ বলে মুখোপাধ্যায় মহাশয় পেঁচোর মা-র বয়স কম, বড়ো ওমনি গালে-
মুখে চড়ায় আর তাঁড়িয়ে কামড়াতে আসে, এখন অধিক বলতে হয় না, শুধু পেঁচোর মা
বলোই হয়। (১/১)
- (ঘ) ভুবন : আমি ব্যাটার গা ধুয়ে দিইচি—ব্যাটা রাগ করিনি, বলে বিয়ের দিন এমন আমোদ করে
থাকে। (২/২)

ধ্বনি ব্যবহারগত বৈশিষ্ট্য

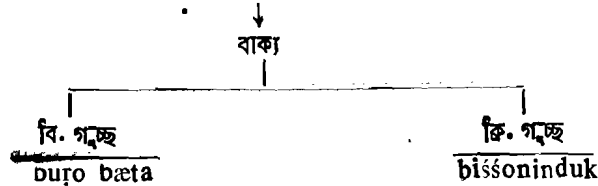
- (ক) k > g যেমন kak > kag
- (খ) ch > c যেমন korici, diici
- (গ) th > t ; kōtha > kōta, matha > mata.
- (ঘ) e > i ; bean > bian.

রূপভঙ্গগত বৈশিষ্ট্য

- (ক) বহুবচনে—‘গুলিন’ বিভক্তি। যেমন—kōthagulin।
- (খ) সামান্য অতীতে ক্রিয়ার -‘এইচি’ বিভক্তি ব্যবহার—kheici, eici (<asiachi)।
- (গ) সামান্য অতীতে নঞর্থক ক্রিয়ার প্রথম পদরূপে ‘ইনি’ বিভক্তি—
‘bæta rag korini’ (২/২)।
- (ঘ) স্ত্রী-ভূমিকায় পদরূপ চরিত্রগুলির স্ত্রীলোকের ভাষার অনুরূপে ‘ভাই’, ‘সেই’ শব্দের
ব্যবহার।
- (ঙ) তুচ্ছার্থে ‘ব্যাটা’ (bæta) শব্দের প্রয়োগ।

অর্থগত বৈশিষ্ট্য

সরল বাক্য—‘buro bata bišsoninduk (২/১)



সখবার একাদশী

এই প্রহসনটি তার জন্মলগ্নের সমকালীন কলকাতার বাবু সমাজের কেছা নিয়ে লেখা। অটল-বিহারী ধনীর সন্তান। নিমচাঁদ এবং সঙ্গীরা তাকে মদ খাওয়া শেখায়। বারবানিতা কাঞ্চনকে নিয়ে সে, এতই বাড়াবাড়ি করে যে পাড়ি মাতাল নিয়ে দস্তাও তাকে উপহাস করে। শেষে কাঞ্চনের প্রতি বিরক্ত হয়ে অটল পরস্পরী প্রতি অনুরক্ত হতে উদ্যোগী হয়। নিজের বাড়িতে এই কুকীর্তি করতে গিয়ে অ্যালবার্ট চেন্দারিনী নিজস্ব কুমুদিনীকেই ভুলবশত বৈঠকখানায় এনে হাজির করে তার নিযুক্ত দাস্ত। অটল ও নিমচাঁদ উভয়েই বেধড়ক পিটুনি খায়। শেষে অটল বলে এত মার খেয়েছে ব্রান্ডি না খেলে ব্যথা সারবে না।

কাঞ্চন ও দামা এখানে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র। মদ্যাসক্ত হয়ে উন্মাদগামী হলেও অটল বা নিমেষদস্তকে তো আর নিম্নশ্রেণীভুক্ত করা চলে না।

কাঞ্চনের সংলাপ : “এই আরদালি ব্যাটাকে সঙ্গে করে নিয়ে গিচ্‌লেন—আমি ভাই বসে রইচি, আরদালি সঙ্গে করে এই মর্দাতি এসে উপস্থিত ; সোদিন আরদালি খুঁড়ো চাপরাসখান ইটের গুঁড়ো দিয়ে ঘসে ঘসে ফর্না করে এনেছিলেন। আমার দাসী জিজ্ঞাসা কল্যে, কি চাও গা ? আরদালি খুঁড়ো ওর্মান গোপে চাড়া দিয়ে বলেন, ‘ইনি ডেপুটি ম্যাজিস্ট্রেট, এইখানে আজ থাকবেন।’ ইচ্ছে হাঁসতে হাঁসতে শাম্লার উপর হুকোর জল ঢেলে দিলে ; যাবু ভিজ়ে বাদরের মত আশ্তে আশ্তে উঠে গেলেন।” (৯৩)

ধ্বনিতাত্ত্বিক বৈশিষ্ট্য

- (ক) পদান্তের $ch > c$; korci, roici
- (খ) পদান্তের $ph > p$; gyope (গোপে)
- (গ) নাসিক্যীভবন (nasalization) — হাঁসতে।

রূপতাত্ত্বিক বৈশিষ্ট্য

- (ক) ক্রিয়াপদকে তুচ্ছার্থক মধ্যমপুরুষে বর্তমানকালে—‘ইচিস্’ বিভক্তি। যেমন—শিখিচিস্।
- (খ) সাধারণ বর্তমান কালে প্রথম পুরুষে সমাপিকা ক্রিয়ার শেষে—এ বিভক্তি। যেমন, দিলে, খেলে।
- (গ) একই মধ্যম পুরুষে ‘তুই’ ও ‘তুমি’ উভয়ের ব্যবহার।
- (ঘ) ‘ব্যাটা’ ও ‘ভাই’ শব্দের প্রয়োগ বাহুল্য।
- (ঙ) বিশিষ্ট শব্দ প্রয়োগ, যেমন—‘ভাড়ানো’, ‘ন্যাকরা’ ইত্যাদি।

অন্বয়গত বৈশিষ্ট্য

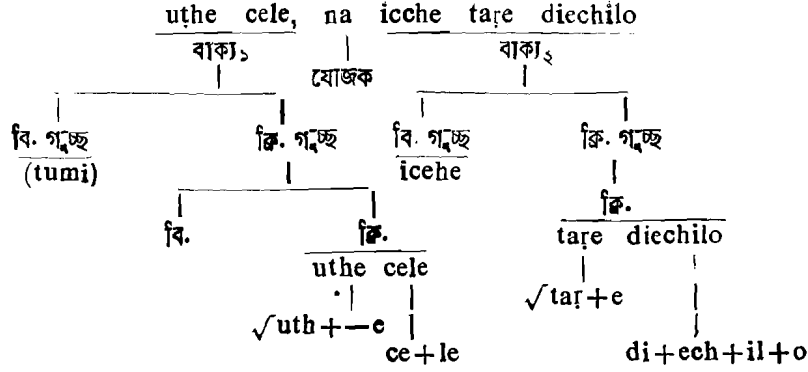
সবল বাক্য : ami ektu bagane bæroi ge (১/২)

বাক্য গঠন → NP + (NP) V

আমি বাগানে (একটু) বেড়াই গে

↓
ক্রিয়া বিশেষণ

যৌগিক বাক্য



কাণ্ডনের ভাষা ব্যবহারে তার সামাজিক শ্রেণী ফুটে উঠেছে। শুধু একটি সংলাপেই তার চারিদিক প্রকাশ পায় : “আমার কপালে বনপো উপর্পিতই ঘটে—প্রিয় শঙ্কর যখন আমার রাখলে, তখন রমানাথ আনার মাসী বলতো, আবার সেই রমানাথ আমার সেবাদাসী কল্লেন, পাছে বমানাথ মনে কিছ্‌ ভাবে তুমি আমার যা বলতে তা মনে আছে ? এখন তোমার জানি হইচি।” (২/২)

কাণ্ডনের পেশা তার পেশাদারী সংলাপেই প্রতিভাত। অটলের ভৃত্য দামা। কাজ করতে করতে আপন মনেই সে বলে, “বোকাবাবুর কাছে নইলে চ কারি পোষায় ? কত জিনিস ভাংচি, কত চুরি কাচ্চি, বাবুর হিসেবও নেই, কিত্তেবও নেই।” (২/২)

এ-ভাষার ধ্বনি ব্যবহারগত বৈশিষ্ট্য

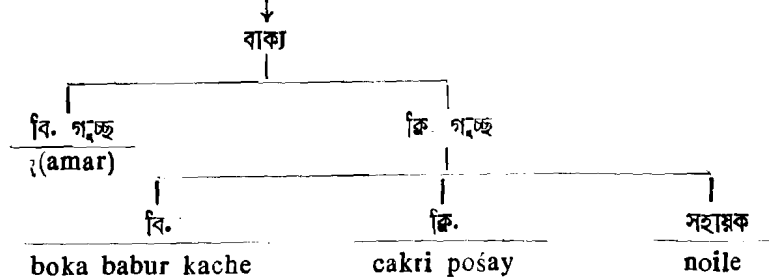
- (ক) শব্দান্তে ছ > চ (ch > c), যেমন—ভাংচি (<ভাঙ্‌ছ)।
- (খ) কিপটে > কাপটে (i > a)।
- (গ) হিসাব কিতাব > হিসেব কিত্তেব (i > e, স্বরসঙ্গতি)।

রূপভিত্তিক বৈশিষ্ট্য

- (ক) অসমাপিকা ক্রিয়ার ‘বের’ বিভক্তি - বল্‌বের।
- (খ) শব্দ প্রয়োগে বিশিষ্টতা—পরতাল, মাল করে (=লোপাট করে), কোটা বালাথানা, কসো, ...।

অস্বয়গত বৈশিষ্ট্য

সরল বাক্য : boka babur kache noile cakri pošay



যৌগিক বাক্যের গঠন : $S_1 + \text{Connective} (= \phi) + S_2 + \text{Connective} (= \phi) + S_3$

↓
“kəto jiniś bhayci,
S₁

kəto jiniś curi kocci,
S₂

babur hiśeb o nei kiteb o nei.”
S₃

জটিল বাক্য : jəmon kapte babu temni kətsai cakoro ache

		বাক্য _১		বাক্য _২
আশ্রয়মূলক				আশ্রয়মূলক
উপাদান _১				উপাদান _২

॥ ৯ ॥

নবীন তপস্বিনী

পঞ্চম অঙ্কের প্রথম গর্ভাঙ্কে চারজন বাহকের সংলাপ ব্যতীত এই নাটকে কোনো নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষা নেই। নাটকের মূল কাহিনী একটি এবং উপকাহিনী একটি। মূল কাহিনী সিরিয়ার উপকাহিনীটি হাস্যরসাত্মক। রাজমিস্ত্রী জলধরের স্ত্রী বহু ইতরভাষা প্রয়োগ করলেও মিস্ত্রীজান্নাকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র বলা যায় না। বাহকদের মোট বারোটি সংলাপ রয়েছে। প্রথম বাহকের চারটি সংলাপ, দ্বিতীয় বাহকের দুটি সংলাপ, তৃতীয় বাহকের দুটি সংলাপ এবং চতুর্থ বাহকের চারটি সংলাপ। নন্দনা দেওয়া হল :

[প্রথম। ওরে একেঁডা ভূঁই দে—ভেবু যাত্তি নেগলো, হ্যাঁদি দ্যাক্, মোর কাঁদি ক্যাটে গেল ভেবু যাত্তি নেগলো। দ্বিতীয়। হ্যাঁরা ও বেন্দা, বল্লি কথা কানে করিস নে, মেজা ভালুই যে ভূঁই দিতে বল্চে—হল্লা, টানাত্তি নেগলো দ্যাক্ ।] (৫/১)

ধ্বনি ব্যবহারগত বৈশিষ্ট্য

১. ট>ড (t>d) -ekhanta>ekenda, cartey>cejdey, eta>eda।
২. স্বরসঙ্গতির প্রভাব : এ>ই (e>i) ; যেমন—dite>diti।
৩. ধ>দ (dh>d) ; kyadh>kyad।
৪. ছ>চ (ch>c) ; bolche<bolce।
৫. এ>আ (e>a) ; eneche>anece।
৬. ছ>হ (ch>h) ; chyuclo>hyuclo।

রূপভাষিক বৈশিষ্ট্য

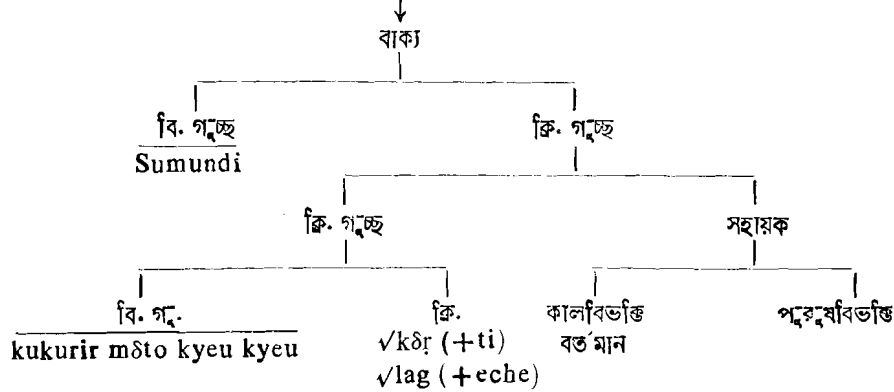
১. পাক্কী বেহারাদের ভাষায় ‘হ্যাঁদিদ্যা’ (=হ্যাঁদি+দ্যাখ্)।
২. ভূঁই দে (ইঁজিন্ন) =মাটিতে রাখ।

০১৩৩
১৭.৭.০৬

৩. অসমাপিকা ক্রিয়ায় '-ই' বিভক্তি। যেমন dhotti, tanti।
৪. সমাপিকা ক্রিয়ায় '-ইনি' প্রত্যয়। যেমন—গিইলি (giili)।
৫. হুন্না, সর্মিন্দ, ওলাতি. ...শব্দের প্রয়োগ।
৬. চর্ > চেয়ো = পাল
৭. দিক্ = দোরি; এখানে হয়েছে 'দ্বিগুণ করিসনে'।

অন্বয়গত বৈশিষ্ট্য

সরল বাক্য : Su.nundi kukurir m̄sto kyeu kyeu kotti negece



যৌগিক বাক্য : mor kyad k̄æte ḡælo, tebu jaɪi neglo

বাক্য_১

বাক্য_২

বাহকদের ভাষায় কোনো জটিল বাক্য নেই।

হাস্যরস সৃষ্টির জন্য প্রথম বাহকের ভাষায় 'হৌদোল কুতকুত'-এর নাম ভুলবশতঃ (নাট্যকারের ইচ্ছাকৃত) 'হাঁদালের গর্তো' দেওয়া হয়েছে।

॥ ১০ ॥

লীলাবতী

'লীলাবতী' সিরিয়াস নাটক। উড়ে ভৃত্য রঘুয়া ছাড়া এই নাটকে উল্লেখযোগ্য কোনো নিম্নশ্রেণীর চরিত্র নেই। ভৃত্য ও দাসীর সংলাপই আলোচ্য এক্ষেত্রে। গুলিখোর, চরিত্রহীন হলেও নদেরচাঁদ জমিদারের ভাগনে। সুতরাং তাকে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র বলা যাবে না। রঘুয়ার সংলাপ ওড়িয়া ভাষায়। দীনবন্ধু কর্মসূত্রে উড়িয়ায় ছিলেন। ওড়িয়া ভাষা তাঁর জানা ছিল।

(ক) "আপনার লেখাপড়া হাঁলানিটিকি? কর্তাবাবু আউছাঁস্তি। .. এ ক'ড় ম : বাবুতো সেয়াং ওপরি দ্বশুচি। গুটে পাচ'ড়া কদড়ি হাতেরে হুয়াড়াকি।" (২/২)

বঙ্গানুবাদ : আপনার লেখাপড়া এখনো হল না? কর্তাবাবু আসছেন। এ কি, বাঃ!

এই বাবুকে তো একটা সঙের মতো দেখাচ্ছে। হাতে পাকা কলা থাকলে ভালো দেখাত। অর্থাৎ প্রকারান্তরে নদেরচাঁদকে বাঁদর বলা হচ্ছে।

মান্য চলিত ওড়িয়ায় এই সংলাপ রচিত। কিন্তু ভৃত্য চরিত্রের ভাষা এত শিষ্ট হওয়া অস্বাভাবিক। বর্তমান কালের কথা বুলিতে ভাষাটি এই রকম হবে :

“কনং আপনমনকার লিখাপড়া হৈলা? বড় কৰ্ত্তা আসুছন্তি। একহনং বাঃ। ইয়াকু কিমতি সং বলিয়া লাগুচি। ইয়ার হাতেরে গুঁটিয়ে পাঁচিলা কদলি রহাঁথলে আর্ডাঁরি ভল দেখিথাস্ত।”

(কটক অঞ্চলের ভাষা)

The Origin and Development of Bengali Language গ্রন্থে আচার্য সুনীতিকুমার ওড়িয়া ভাষার সঙ্গে বাংলার ভাষার সাদৃশ্য দেখিয়েছেন। বঙ্গ-অসমীয়া-ওড়িয়া তিনটি ভাষাই মাগধী অপভ্রংশ থেকে সৃষ্ট।^{১৪} ওড়িয়া ভাষার ব্যাকগঠন কৰ্ত্তা কৰ্ম ক্রিয়া (S.O.V.) ধরণের। দীনবন্ধু রঘুয়ার ভাষার একটি শব্দ (‘দ্বারী’) নিয়ে কৌতুক সৃষ্টি করেছেন। বাংলায় দ্বারী শব্দের অর্থ দ্বাররক্ষক। ওড়িয়ায় ‘দ্বারী’ বোঝায় বারান্দাকে। যজ্ঞেশ্বর যখন রঘুয়াকে বলে, “দ্বারীকে বলো আমার বাড়ীর ভেতর যেতে দেয়” তখন ওড়িয়া শব্দটির অর্থ বুঝে ক্ষেপে গিয়ে সে বলে : “দ্বারী তোর মাইপো সড়া মিচ্ছ গোসাই, ভণ্ড, চোর, খণ্ট, গোটাঁয় মূথো মারি সড়ার নাক চেম্পা করি দেবি—মতে গালি দেল, কাই কি?” (৩/৩)

॥ ১০ ॥

জামাই বারিক

কুলীন পাত্রের কন্যা অর্পণ করার সংস্কারকে বাঙ্গ করে এই প্রহসনটি রচিত। ব্যারাকে বসবাসকারী জামাইরা অকর্মা হলেও তারা জামদারের জামাই। সন্তরাং নিম্নশ্রেণীভুক্ত চরিত্র নয়। এই প্রহসনে নিম্নশ্রেণীর চরিত্র—হাবার মা, ভবিময়রানী, পাঁচী, চোর ইত্যাদি।

ভবির সংলাপ—“এটি নাটজামায়ের অন্যান্য—কত হুমরোরুমরো ভাতার মেগের কথায় প্রদীপে তেল দেয়, মাগকে উঠতে দেয় না, বিশেষ শীতকালে।” (১/২)

হাবার মার সংলাপ—“আহা! রাত পর দুইয়ের সময় লোকজন সব শুষেছে, মাজের দরজায় চাবি পড়েছে, বাছারে ঘর থেকে বার করে দিলে খিল দিল, ও কি সামান্নি। ওর মত কল্পা মেয়ে বাপের কালে দোখনি—দশটা পাঁচটা নয় একটা ভাতার, তার এই খরু ছিক্ লো ছি—” (১/২)

সংলাপের ধ্বনিতত্ত্বগত বৈশিষ্ট্য

- (ক) পদমধ্যস্থিত ‘হ’ লোপ (h > φ)—prohor > pōr
- (খ) ছ > জ (jh > j)—majher > majer
- (গ) ও > ই (o > i)—śamanno > śamanni
- (ঘ) স্বরসঙ্গতি—o > u, a > e—uddog > ujjug, rate > rete

- (ঙ) খ>ক (kh>k)—cokh>cðk
 (চ) homra comra – humro cumro
 (ছ) p>k—dupur > dukur

রূপান্তরগত লক্ষণ

- (ক) সম্বোধনে 'লো', 'লা', 'হ্যাঁলা' শব্দ ব্যবহার—নারীর ভাষায় ।
 (খ) সম্মানিকা ক্রিয়ায় সামান্য বক্তৃৎমানে -'ইচি' বিভক্তি । যেমন— kðr + -ici = korici ।
 (গ) অসম্মানিকা ক্রিয়ায় 'ইয়ে' বিভক্তির '-ই' লোপ—tariye > tarje ।
 (ঘ) গোণকর্মে 'রে' বিভক্তি tore, amare ।
 (ঙ) নিষেধ অর্থে 'আটক' শব্দ ব্যবহার—“তোর আর আটক কি ?”
 (চ) নিষেধার্থে 'না'-র বদলে 'নে' ব্যবহার—korišne ।

অঙ্কনগত বৈশিষ্ট্য

সরল বাক্য :

tui o to dojbðrer mag (১/২)

↓
বাক্য



যৌগিক বাক্য :

ami kðthaçi paři ar kamini uře dæy

S₁

↓
Connective

S₂

জটিল বাক্য :

amar bodh hðy ektu bharikki hole tor bhatarke tui bhalobašbi

S₁

S₂

S₃

গঠন : S₁ + Connective₁ (=φ) + S₂ + Connective₂ (=φ) + S₃

॥ ১১ ॥

নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের সংলাপে ব্যবহৃত অপশব্দ, বাগ্‌ধারা এবং উপমা

সাধারণতঃ শিশু সাহিত্যে অপশব্দ ব্যবহৃত হয় না । কিন্তু নাটকীয় চরিত্রের মুখে যথাযথ ভাষা বসাতে গেলে অপশব্দ ব্যবহার করা চলে ।

নীলদর্পণ নাটকে অপশব্দ

সুন্দরিন্দ, মাগ, গোড়ার নীল, শালা, খাল, ডবকা, মাগী, মিন্‌সে, ভাতার, গস্তানি, নছার,

আবাগী, হের, দামড়া, মান্নির ভাই, ছাবাল, হিরিভাতি, গাভা, হেই, হেব্লো, আটকুড়ির ব্যাটা, ভ্যাকরা, ভাতারখাগী, দ্যাকমার, পোড়ারমুখ, হারামজাদী, গুথেকোর ব্যাটা, পৌচা, বেছাম্পর, বেপালট, ভাইভাতারী ভাই, প্যাট করে, ... ।

নবীন তপস্বিনী নাটকে বিস্তর অপশব্দ প্রয়োগ করেছে রাজমন্ত্রী জলধরের স্ত্রী । কিন্তু মন্ত্রীপত্নী বলে তার ভাষা বর্তমান আলোচনার অন্তর্ভুক্ত নয় ।

সধবার একাদশী

ন্যাকরা, শালী, মাইরি, গুওটা, কাপুটা, পরতাল, মাল, জোবর, ঘরের মাগ, নেমোথারাম ।

বিয়ে পাগলা বড়ো

মাগী, বামনা, আঁস্তাকুড়ের পাত, পীরিতি, ভাতারের বাবা, আবাগের ব্যাটা, এঁড়ে শোর, বোনাই ভাতারী, ব্যাই ভাতারী, কুজকো, ... ।

লীলাবতী

বরাটে, মাগ, রুড়ীর মে.য়. মাইরী, শালী, বিয়েন, গ্যাদারি, বোধিনং পাখুথরা, শালীর বেটি, শুমোর মুখো, কুন্কি, ... ।

জামাই বারিক

মাইরি, ভাতার, খাড়ি, নেংটা, কল্লা, রনের ডোবা, চুলোর দোরে, হাড়াই ডোমাই, হস্তছাড়ি, শতকথোয়ারি, দোজবরে ভাতারের মাগ, পোড়াকপালি, ডাকরা, ... ।

কমলেকাশিনী নাটকে উল্লেখযোগ্য কোন নিম্নশ্রেণীর চরিত্র নেই ।

বাগধারা বা ইভিয়মের তালিকা

নীলদর্পণ

হাঁড়ি সিকের উঠবে (১/১), হাবাভেও ফিকর হলো দেশেও মন্বন্তর হলো (১ ২), মড়ার উপর খাড়ার ঘা (১ ৩), ঘনটেকুড়ুনীর ছেলে সদর নায়েব (১/৩), মাছি মেরে হাত কাল (১/৩), বোকা ছাগলে ফ্যাবা মারে (১ ৪), কুঁদির মুখি বাঁক থাকবে না (২/১), সাচা কথা কবো, ষোড়া চড়ে যাব (২/১), আহ্লাদে যে আর বাঁচিনেগা (২/১), হম্বে কুকুরের মতো (২/১), প্যাঁজ পল্লজার দই (২/১), চোরা না শূনে ধর্মের কাহিনী (২/৩), আপনার পারে আপনি কুড়ুল মারি (২ ৩), নীলের দাদন ধোপার ভালা (২/৩), অরণ্যে রোদন (৩/৩), ও ব্যামন কুকুর তুই তেমনি মৃগুর (৩/৩), ব্যাকের সান্দ (৫/১), হাত পা প্যাটের মধ্যে গেল (৫/২), শাঁড়ির সাক্ষী মাতাল (১/২), ... ।

বিয়ে পাগলা বড়ো

মুখখানি মেচোহাটা (১/১), তেলেবেগদনে জরলে উঠলে (১/১), মাতা খাবে (১/১), দ্যাল সান্ধি (১/৩), কপাল ফিরচে (১/৩), শালী পনের আনমাগ (২/২), ধর্মের হাঁড়ি (২/৩), মুখে আগুন (৩/৩), পাতরে পাঁচি কিল (২/২), ছাই ফেলতে ভাঙা কুলো (২/১) ।

সধবার একাদশী

মাতা খাচ্ছেন (১/২), কোটা বালাখানা করে ফেলবো (২/২), গোল্লায় যাও (২/৩),

নিম্নলিখিত ঘাটে গিয়ে শোও (২/৩), বাপের কালে দেখিনি (২/৩), গোপে চাড়া দিয়ে (৩/১),... ।

লীলাবতী

ঘাসের বিচি খাইনে (১/১), ঘাম দিয়ে জ্বর ছাড়ল (১/২), যমের বাড়ি যাও (১/২), হাবাতের অনেক দোষ (২/১),... ।

জামাইবারিক

গুণের নিধি (২/১), অর্ধচন্দ্র আহার (৩/১), রক্তের টান (৪/৩) ।

ভগ্ন এবং অর্ধ-তৎসম শব্দ ও বিকৃত শব্দের তালিকা

লোকভাষার ক্ষেত্রে দেখা যায় যে নিজেদের মধ্যে সংযোগের জন্য লোকভাষাভাষীরা সাধারণত শব্দ শব্দের দুটিপূর্ণ উচ্চারণ করে। নাট্যকার স্বেচ্ছায় এই ভুল উচ্চারণ তুলে ধরেন ভাষাকে চিরগ্রন্থ করার জন্য (Caecology)। লোকভাষা ব্যবহারকারীরা নিজেদের সাংস্কৃতিক জীবনবোধ থেকে লোক নিরুদ্ভি (Folk Etymology) ব্যবহার করে, নতুন ধাতু গঠন করে। এই ভাষা প্রাসঙ্গিক, প্রসঙ্গ বহির্ভূত নয়।

নীলদর্পণ

বচ্ছর (<বৎসর), কারিকত (<কারুকৃত), স্দুন্দ (<সম্বন্দ), নাড় (<রাড়), খ্যাদ (<ক্ষেদ), পরাণ (<প্রাণ), বাউ (<বাউটি), পইঁচে (<পেঁছা), কেপ্পা (<কুপা), পত্তি (<প্রতি), পরণাম (<প্রণাম), পরকাশ (<প্রকাশ), গোন্দো (<গন্ধ), কামরাঙ্গা (<কামরা), মাছেরটক (<ম্যাজিস্ট্রেট), পিল (<আপীল), ম্যাদ (<মেয়াদ), হাংনামা (<হাঙ্গামা), নড়ুই (<লড়াই), ফোজদারি (<ফোজদারী), তেরোনাল (<তেরোয়াল), নাজা পাকড়ি (<রাঙা পাগড়ী), অরপুন্দ (<অপরূপ), গারনাল (<গভর্গর), মামদো (<মহম্মদীয়), ব্যাভ্রম (<বিভ্রম), তিসেয় (<তুফায়), খেঁটে (<খেঁটে-খেঁটি), মিশর (<মাইশের), নেটেলা (<লাঠিলাল), এমান (<ইমান), নাত্তি (<রাতে), নিষ্যাধি (<নির্ব্যাধি), পত্তিবাসী (<প্রতিবেশী) ।

বিষ্ময়গালা বড়ো

বাম্নি (<ব্রাহ্মণী), কোম (<কম), ডুম্নী (<ডোমনী), স্বপোন (<স্বপ্ন), অ্যাট্টা (<একটা), ট্যাং (<ঠ্যাং), পেত্তার (<প্রত্যয়), পর্ত্তম (<প্রথম) ।

সম্ভার একাদশী

কাপুটে (<কুপণ), পালোন (<পারলেন), কচ্চো (<করছ), পের্লাউন (<প্রনাউন), ম্চ্ছো (<ম্চ্ছা) ।

লীলাবতী

অতুচ্ছ (<তুচ্ছ), উড়ুনচড়ে (<উড়নচড়ী), অধৈর্ষ (<ধৈর্ষ), সম্পক (<সম্পর্ক), জরিবানা (<জরিমানা) ।

জামাই বারিক

নুঠ (<লুট), কান্ট (<কান্ড), দুর্গি (<দুর্গা), ঠাকারে (<ঠাকুর)।

নবীন ভগ্নস্বনী

জাড়া, একেঁডা, দ্রিৎ, হুঁচলো ।

ধন্যাত্মক শব্দ

হেড়াহেড়ি, হুঁলা, কেঁউ কেঁউ, কুচিকুচি, ধপ্ধপ্ !

উপমা

উপমা প্রয়োগ কবি সাহিত্যিকদের প্রিয় বিষয়। মূখের ভাষাতেও উপমা ব্যবহারের প্রবণতা কারো কারো মধ্যে দেখা যায়। স্বকর্ণাঙ্কিত, অর্শাঙ্কিত ব্যক্তি এবং গ্রাম্য লোকের কথায় উপমা প্রয়োগ লক্ষ্যণীয়। নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের ভাষায় বহুবিচিত্র উপমা ব্যবহার করেছেন দীনবন্ধু মিত্র। অনেক সময় হাস্যরস সৃষ্টির জন্য চাঞ্চীর মুখে ভুল উপমা বসিয়েছেন। তবে বক্তার চরিত্রের দিক থেকে উপমাগুলি কখনোই অসঙ্গতিপূর্ণ মনে হয় নি। বরং প্রায় সব চরিত্রের সংলাপে উপমার আশ্রয় নেওয়া একটা সার্বিক চরিত্র ফুটিয়ে তুলেছে। এখানে কয়েকটি দৃষ্টান্ত দেওয়া হল :

১. কি উঠানই ছিল, যেন ঘোড়দৌড়ের মাঠ, আহা। (নীলদর্পণ, ১/১)
২. ভেটায় যে ছাতি ফেটে গেল। (ঐ, ১/২)
৩. মোর গাড়া কাঁটা দিয়ে ওটচে। (ঐ, ১/৪)
৪. গোড়ার পা খ্যান বন্দে গোরুর খুর। (ঐ, ২/১)
৫. মোরে কাল সাপের গন্তের মাধ্য একা রেকে গেলি। (ঐ, ৩/৩)
৬. নমীর আং বৃষ্টি পোয়ালো, মোর সোনার পিঁপুটিমে জলে যায়। (ঐ, ৫/৩)
৭. প্যাট জ্বালি উঠলি খাতি চাও। (বিয়েপাগলা বৃড়ো, ১/৩)
৮. বাসর ঘর রসের বৃন্দাবন। (ঐ, ২/২)
৯. বাবু ভিজ্জে বাদরের মতো আশ্বে আশ্বে উঠে গেলেন। (সধবার একাদশী, ৩/১)
১০. সারু গছ মূলে ভেকো ছয় দণ্ড ধরইতা। (লীলাবতী, ২/২)
১১. এত বৃড়ি, শুবু রসের ডোবা। (জামাই বারিক, ১/২)
১২. চুলগালো যেন তেলে সাতার দিচ্ছে। (ঐ, ৩/২)

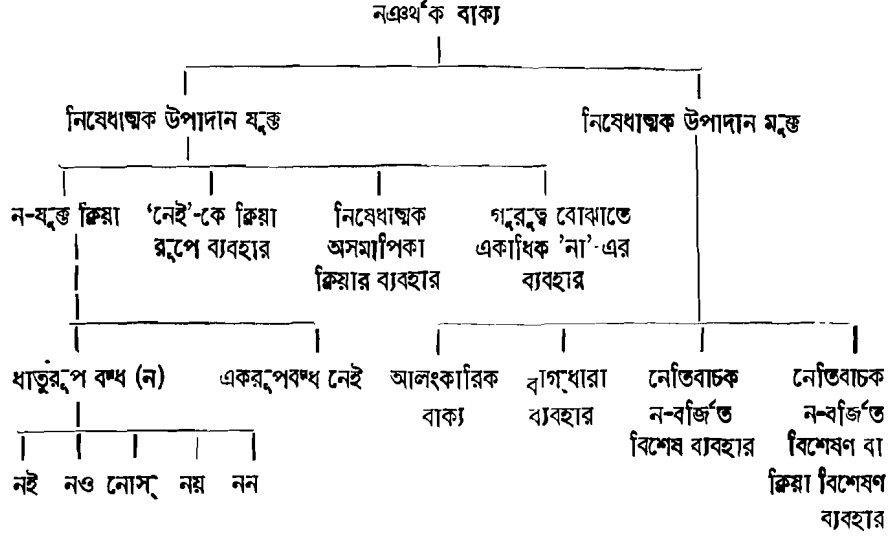
॥ ১২ ॥

নঞর্থক বাক্য

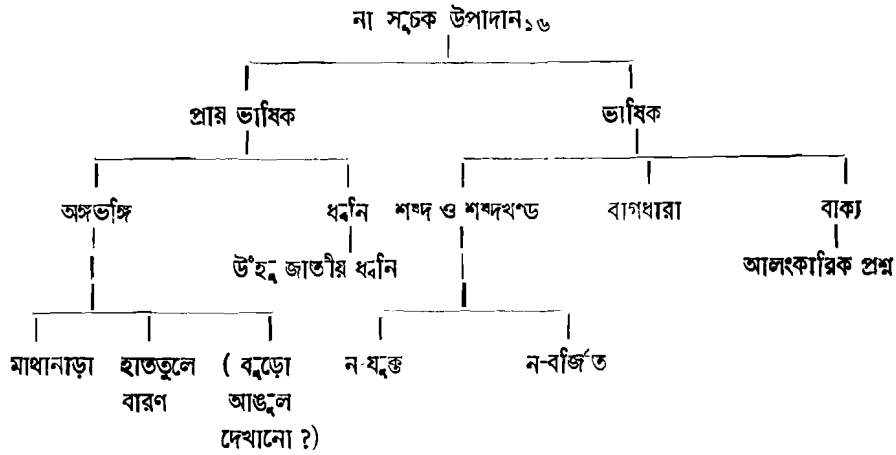
নিম্নশ্রেণীর চরিত্রের মুখে নাট্যকার দীনবন্ধু কথা বলার বিভিন্ন টেকনিক ব্যবহার করেছেন। তাদের ব্যবহৃত বাক্যের কর্তা-কর্ম-ক্রিয়া (S.O.V.) প্যাটার্ন সর্বদা বজায় থাকে নি। এরা নানা

ধরণের নিষেধাত্মক বা নঞর্থক বাক্য বলেছে। সংলাপ বিশ্লেষণের ক্ষেত্রে এই না-বোধক বাক্যগুলিকেও আলোচনার আওতা আনা দরকার।

বাংলা ভাষায় নিষেধ বাক্য কতরকম হতে পারে তার একটা ছক দেওয়া যেতে পারে :



বাক্য ব্যবহার না করে বিভিন্ন শব্দ বা শব্দখণ্ড এবং অঙ্গভঙ্গি দ্বারাও নঞর্থক মনোভাব বোঝানো যেতে পারে। সেক্ষেত্রে নীচের ছকটি উল্লেখযোগ্য :



নঞর্থক বাক্যে গঠিত সংলাপ

১. আমি তখনি বলোছিলাম, কতী মহাশয়, আর এদেশে থাকা নয়, তা আপনি শুনলেন না।
(নীলদর্পণ ১/১)
২. এখন তো আর সুখের বাস নাই। (ওই / ১'১)
৩. তিন বৎসর হুয়ান সাহেবের পতনি হয়েছে। (ওই / ১/১)

৪. দীক্ষণ পাড়ার মোড়লের বাড়ির দিকে চাওয়া যায় না আহা। (ওই ১/১)
৫. গেল সন গোয়াল সারিতে না পারায়.....। (ওই/১/১)
৬. যানের ভূঁয়ে নীল করে নি বল্যে.....। (ওই/১/১)
৭. বদলি নি ভিক্ষ করে খাব তবু এ গায়ে আর বসত্ করব না। (ওই ১/১)
৮. *সে দিনে সাহেব বসেল, “খদি তুমি আমিন খালাসার কথা না শোনো, আর চিহিত জামিতে নীল না কর, ...,” ...তাহাতে বড়বাবু কহিলেন, “আমার গন্ত সনের ৫০ বিঘা নীলের দাম চুকাইয়ে না দিলে এ বৎসর এক বিঘাও নীল করিব না, ...। (ওই/১/১)
৯. আপনারা নাবাখাবা করবেন না? (ওই/১/১)
১০. নতুবা আমি মারা যাই। (ওই)
১১. শালা কোন মতেই শোনলে না। (ওই/১/২)
১২. যদি না ছাড়ে ...। (ওই/১/২)
১৩. আর দোর নেই। (ওই)
১৪. কাকিমারে দেখতি বাবা না? (ওই)
১৫. তা কিছতেই শোনলে না। (ওই)
১৬. আহা, জমি তো না, যান সোনার চাঁপা। (ওই)
১৭. না খাতি পেয়ে মরবো। (ওই)
১৮. ...তাতে তো ফলন নাই। (ওই)
১৯. তুই কাঁদিস নে। (ওই)
২০. তা, কিছতেই শোনলে না। (ওই)
২১. নীলের গাদন বল্যে ভাল হয় না? (ওই)
২২. না খেয়ে সাহেবের কুটি যাবে—। (ওই)
২৩. নাতিও পালাম না, খাতিও পালাম না। (ওই/১/৩)
২৪. মেয়েজা গড় কহেল, তা বাঁচো মরো একটা কথাও কলে না। (ওই/১/৪)
২৫. মূই তো আর একা বেরাব না। (ওই)
২৬. ...প্যাঁজির গোলন্দা সহিতে পারি নে। (ওই)
২৭. তা নইল মেয়ে নাতি দিয়ে মদু ভেঙ্গে দেতাম। (ওই)
২৮. দাড়ি প্যাঁজি না ছাড়াল মূই তো কখনই খাতি পারবো না। (ওই)
২৯. যদি মোর সঙ্গে না পেটেরে দিস, ...। (ওই)
৩০. মা, জান না, নয়দারা রাজি নামা দিতি চাইনি বল্যে...। (ওই)
৩১. না মা, সে আকিই নীলির ঘায়ে পাগল, ...। (ওই)
৩২. তা বদলি বড়বাবু শুনিন্। (ওই)

* একটি নাট্য সংলাপের মধ্যে স্ত্রী দুটি চরিত্রের প্রত্যেক উক্তি বসানো হয়েছে। অর্থাৎ একসঙ্গে তিনটি direct speech পাঠ্য আছে।

৩৩. না কি এ ম্যাদের পিল হয়না (ওই)
৩৪. ম্যারে ক্যান ফ্যালার না, মুই নেমোথ্যারামি কস্তি পারবো না। (ওই / ২/১)
৩৫. মুই তো কখনুই পারবো না —জান্ কব্লে। (ওই)
৩৬. কন্দার মূর্খ বক্ক থাকবে না। (ওই)
৩৭. মোদের চাঁক কি আর চামড়া নেই না মোরা কি বড় বাবুর নুন খাই নি জা কর। কি, সাক্কী না দিলি যে আস্ত রাখে না। (ওই / ২ / ১)
৩৮. ...নীল কল্লাম না বল্লি তো খাটবে না। (ওই ২'৩)
৩৯. ভাবনাপুরীর সাহেব তো মিছে হ্যাংনামা করে না। (ওই)
৪০. সব সমিন্দ যদি ঐ সমিন্দর মত হতো, তাহালি সমিন্দ গার এত্ত বদনান নটুতো না। (ওই)
৪১. আক্লাদে যে আর বাঁচি নে গা। (ওই)
৪২. কুট খাতি যাই নি। (ওই)
৪৩. আর সমিন্দর নীল মাম্দো ঘাড়ে চাপতি পারবে না। (ওই)
৪৪. মাম্দো ভুতে পালি নাকি ওখাতে ছাড়ে না? (ওই)
৪৫. নচা কথা সোমোজ্জ কস্তি পারে না। (ওই)
৪৬. কিছই জনতি পাল্লাম না। (ওই)
৪৭. সাহেবের তো টাকার কমি নি, ওর তো আর মহাজন কস্তি হয় না। (ওই)
৪৮. নিঞ্জ না চমতি পারিস মেইদার রাখ ... গা কে গা ক্যান চসে ফ্যালনা। (ওই)
৪৯. ...দাদনের হাত ছাড়াতে পারি নি। (ওই)
৫০. উপপতি করিছ বলে কি আমার শরীরে দন্না নেই। (ওই / ২/৩)
৫১. আমরা দিহে হবে না। (ওই)
৫২. ...তোর কাছে কিছু চাব না। (ওই)
৫৩. পম্মমূর্খ রাগ করিস নে। (ওই)
৫৪. সাহেবেরে লুট বই আর কাষ নাই। (ওই)
৫৫. ছি বাবা কেশব, পিসি হই এমন কথা বলে না। (ওই)
৫৬. চোরা না শুনুনে ধর্মের কাহিনী। (ওই)
৫৭. মুই উপপতি কস্তি কখনুই পারবো না। (৩/৩/ ওই)
৫৮. ...যান্ বিবর পোষাক পরতি না হয়। (ওই)
৫৯. মুই বাড়ি গিরে না নেয়ে তো ঘরে যাতি পারবো না। (ওই)
৬০. মুই একা যাতি পারবো না। (ওই)
৬১. মন্নরা পিসি বাস নে...। (ওই)
৬২. মার্ন না মোর প্রাণ বার করে ফ্যাল না,* আর যে মুই সহিতে পারি নে। (ওই)
৬৩. কই শালা গ্যাড গ্যাড করে জুতার গুতো মারিস্ নে? (ওই)

* ব্যাকালিকার অবধি

৬৪. পেল্‌য়ে গেলে তো কিহু কস্তি পারবা না, মরার বাড়া তো গাল নেই। (ওই)
৬৫. মোরা আর ওনাদের খবর আঁকি নে? (ওই, ৫/১)
৬৬. ...মুই বড়বাবুর অ্যাকবার বাঁচাতি পাল্লাম না। (ওই, ৫/২)
৬৭. খোদার জীব পরাগে মাস্তাম না। (ওই)
৬৮. এই যে, দূর ছাই মনেও আসে না— হাঁদোলের গুতো। (নবীন ওপাশ্বিনী, ৫/১)
৬৯. রাজীব মুখুয়ে না মলে দেশের নিষ্ঠার নাই। (বিয়ে পাগলা বড়ো, ১/১)
৭০. আমার দেখতে পাই নি। (ওই)
৭১. আমরা যদি ভাল পরীক্ষা না দিতে পারি...। (ওই)
৭২. মুই ও নামডা ধস্তি পারি নে। (ওই ১/৩)
৭৩. দাঁড় থাক্‌ল কি মোরে বিয়ে কস্তি পারে না? (ওই)
৭৪. বড়ো যে আজি হয় না। (ওই)
৭৫. তেল নুন আবালে খাতি পাচ্ছি নে। (ওই)
৭৬. শূন্যের মাংস কলি না পেতার মাথা...। (ওই)
৭৭. কত মেয়ে কস্তি পারিনে। (ওই, ২/৩)
৭৮. মাইরি, আমি ঐজন্য আসিনে। (সধবার একাদশী, ১/১)
৭৯. তুই আমার বেটি বেটি করিস নে বল্‌চি। (ওই)
৮০. আমরা নাচতে জানি নে, গাইতে জানি নে, কথা কইতে জানি নে, কিসে ঔর মনোরঞ্জন করবো? (ওই)
৮১. বাবুর হিসেবও নেই, কিতবেও নেই। (ওই, ২/২)
৮২. বাবুর মন্দ বল্‌ধের যো নাই। (ওই)
৮৩. আপনাকল্প লেখাপাড়ি হাজানিটিক? (লীলাবতী, ২/২)
৮৪. কেবে ছাড়ি দেবি না। (ওই, ৩/৩)
৮৫. অমন কথা বলিস্‌ নে। (জামাই বারিক, ১/২)
৮৬. জাতার যে ভোর মনে ধরি নি। (ওই)
৮৭. বল্‌ না ভাই। (ওই)
৮৮. মেজ্‌ দিদি মনে বড় ব্যথা পেলে, না? (ওই)
৮৯. তা আর দিতে হয় না। (ওই)
৯০. জামাইবাবু আর আসেন নি। (ওই)
৯১. আর নাকি আসবে মা? (ওই)
৯২. মরিস্‌ নে কেন? (ওই)
৯৩. তোর না তো কি আমার, না হাবার মার? (ওই)
৯৪. এবার এলে আর গ্যাঁদা করে হত্‌ছেন্দা করিস্‌ নে। (ওই)
৯৫. সত্যি হাবার মা কামিনী তাকে বাদী বলে নি। (ওই)

১৬. নাচবো না তো কি? (ওই)
 ১৭. কেমন নতুন পাবিত কল্লি বল্ না? (ওই)
 ১৮. সতীন যেন হয় না। (ওই)
 ১৯. মাইরি, দিদি আমি কিছ্ খাওয়াই নি। (ওই)
 ১০০. হাড়ই ডোমাই ভাল দেখায় না। (ওই)

—এই ১০০টি নগ্নর্থক বাক্য ছাড়াও কিছ্ নগ্নর্থক বাক্য আছে। ১০০টি বাফোর মধ্যে—

ক্রিয়ার পরে 'না'	—	৮২
ক্রিয়ার আগে 'না'	—	১৩
ব্যাক্যলংকার অব্যয় 'না'	—	০৬
নতুবা / নয়তো শব্দ	—	০২
নিষেধার্থক না, নহ, নেই	—	০৪
অনুপস্থিত অর্থে 'নাই / নাই	—	০৭
প্রশ্নাঙ্ক 'না'	—	১২

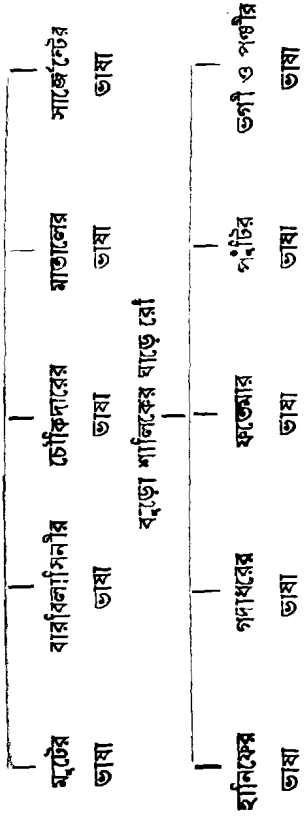
মোট ১২৬টি নগ্নর্থক শব্দ

॥ ১৩ ॥

নিয়ন্ত্রণের চরিত্রের সংলাপ স্মৃতিতে দীর্ঘস্থ হই নৈপুণ্য দেখিয়েছেন তা বাংলা নাটকে প্রথম নয়। মধুসূদন তার আগেই বিখ্যাত প্রহসনদুটিতে নিম্নবর্ণের মানুষের ভাষা হৃৎকৃত্তুলে ধরেছেন। নাট্যসংলাপ বিচারের একটি নান্দনিক দৃষ্টিভঙ্গি রয়েছে। বর্তমান আলোচনা শূধুমাত্র ভাষাতাত্ত্বিক দৃষ্টিকোণ থেকে কৃত। আলোচনার শীর্ষনামেই এর সমীচরণ্য চিহ্নিত হয়ে গেছে বলে অনেক চরিত্রের ভাষা অনালোচিত থেকে গেল। তবে বিস্মৃত আলোচনার অবসর ও আলোচক যত্নেই বর্তমান।

মধুসূদনের প্রহসনদুটিতে নিয়ন্ত্রণের চরিত্রের ভাষা যথাযথ ও চরিত্রানুগ। প্রহসনদুটিতে বিভিন্ন সমাজের ভাষা রয়েছে।

একেই কি বলে সভ্যতা



আমরা 'একেই কি বলে সভ্যতা'-র সার্জেন্টের ভাষার সঙ্গে 'নীলদর্পণ'-এর উড ও রোগ সাহেবের ভাষা তুলনা করছি। প্রহসনে একটি দৃশ্যে কিছুক্ষণের জন্য সাহেব সার্জেন্টকে দেখা গেছে। তার বারোটি সংলাপ রয়েছে। নীলদর্পণ-এর মোট আঠারোটি নাট্যদৃশ্যের ছয়টিতেই নীলকর সাহেবদের পাই সবাক অবস্থায়। অর্থাৎ নাটকে তাদের উপস্থিতি শতকরা তেরিশ ভাগ। উড ও রোগের মোট সংলাপ আটচল্লিশটি।

পুলিশ সার্জেন্ট কলকাতা শহরের বাসিন্দা। তার ভাষায় ইংরেজী ও বিকৃত হিন্দী শব্দ রয়েছে কিন্তু একটিও বাংলা শব্দ নেই। উড ও রোগের ভাষায় সাধু বাংলা ও হিন্দী শব্দই বেশী। কারণ তারা চাষীদের সঙ্গে কারবার করে। চাষীরা ইংরেজী বুঝবে না।

সার্জেন্টের ভাষা : "সো নেই হোগা, টোম্ ঠানেমে চলো-কিন্মা ? টোম্ ষাগে নেই ? আলবট ষানে হোগা। (১২)

নীলকরের ভাষা :

উড। তুমি শালা বড় নালায়েক আছে। স্বরপদর, শ্যামনগর, শান্তিঘাটা এ তিন গায়ে কিছু দাদন হলো না। শ্যামচাঁদ বেগের তোম্ দোরস্ত হোগা নেই। (১/৩)

রোগ। ইনফরন্যাল কিচ। ...এইবার তোমার ছেনালি ভঙ্গ হইবে। (৩'৩)

শুধু গালাগালি দেওয়ার সময় নীলকররা কিছু ইংরেজী শব্দ ব্যবহার করেছে। 'সখবার একাদশী'-তেও পুলিশ সার্জেন্টের ভাষা রয়েছে—

[সার্জেন্ট - What is the matter with you ?

সার্জেন্ট—টোম্ কোন্ হায় ?

সার্জেন্ট—I will drown you in the Hoogly.

সার্জেন্ট—জলদি উঠাও।]

এখানেও কোনো বাংলা শব্দ নেই। 'একেই বলে সভ্যতার' সার্জেন্টের ভাষা ও 'সখবার একাদশী'র সার্জেন্টের ভাষা হুবহু এক।

বুড়ো শালিকের ঘাড়ে রোর হানিফ গাজীর ভাষার সঙ্গে সাদৃশ্য রয়েছে 'নীলদর্পণ'-এর তোরাপের ভাষার। হানিফের বারোটি সংলাপ রয়েছে।

[হানিফ। এমন গরুখোর হারামজাদা কি হেঁদুদের বিচে আর দুজন আছে ? শালা রাইওং বেচারীগো জানে মারে, তাগোর সব লুটে লিয়ে, তারপর এই করে। আছা, দোঁখ, এ কোম্পানির মুলুকে এনছাফ আছে কিনা। বেটা কাফেরকে আমি গরু খাওয়ায়ে তবে ছাড়বো। বেটার এস্তবড় মক্দ্দর। আমি গরুই হলাম বল্যে বয়ে গেল কি ? (২/১)]

হানিফ ও তোরাপের ভাষার ধ্বনিাত্মিক বৈশিষ্ট্য প্রায় এক। উভয়ের দুটি সংলাপ তুলে দেওয়া হল :

[হানিফ। আরে ধোণ্ড ম্যানে, ঠাহর। আমার লহু গরম হরে উঠুন্তেছে, আর হাত দুখানা বেন নিস্পিন্দু কওছে,—একবার শালারে এখন পালি হয়, তা হাঁল মনের সাথে তারে কিলরে গোরাম ছাড়ো ষাব, আর কি ? (২/২)]

[তোরাপ। দুস্তার প্যারেকের মার প্যাট করে, লৌ দেখে গাড়া মোর ঝাঁটি মেয়ে ওটচে।

উঃ কি বল্‌বো, সান্দ্রির অ্যাকবার ভাতারনারির মাঠে পাই, এম্নি থাম্পার ঝাঁকি, সান্দ্রির চাবালিকে আসমানে উড়বে দেই, ওর গ্যাডম্যাড করা হের ভেত্তর দে বার করি। (২/১)

হানিফের ভাষায় তার ধর্ম বোঝাতে আর্বা ফাসী শব্দ ব্যবহৃত হয়েছে। তোরাপের ভাষাতেও তা আছে। উভয়েই কৃষক সমাজের প্রতিনিধি। তোরাপের ভাষায় তার রাগ যতটা প্রকাশ পেয়েছে হানিফের ভাষায় ততটা প্রকাশ পায়নি। অথচ তার রাগ আরো বেশি হওয়া উচিত ছিল। কারণ তার বিবির ওপর জমিদারের দৃষ্টি পড়েছে। তোরাপের তুলনায় হানিফের ভাষা মার্জিত। কিন্তু তোরাপ প্রাণ খুলে গালাগালি দিয়েছে। লক্ষণীয় যে তোরাপ যখন তার সমশ্রেণীর লোকের সঙ্গে কথা বলছে (অর্থাৎ sender ও receiver একই সামাজিক শ্রেণীভুক্ত) তখন মুখ খারাপ করেছে বেশি। কিন্তু হানিফ তার সমশ্রেণীর লোকের সঙ্গে কথা বলছে না (বিবি ফতেমা ছাড়া)। সেক্ষেত্রে তার ভাষা কিছু মার্জিত হওয়া স্বাভাবিক। তবু হানিফের তুলনায় তোরাপের ভাষা বেশি প্রাণবন্ত।

দীনবন্ধু মধুসূদনের ভাষা দ্বারা প্রভাবিত হয়েছিলেন এমন কোনো সিদ্ধান্ত আমরা নিচ্ছি না। কিন্তু পূর্ববর্তী নাট্যকারের রচনায় সঙ্গে তিনি নিশ্চয়ই পরিচিত ছিলেন। প্রায় একই সময় রচিত বলেও যুগভাষা হিসেবে নিম্ন শ্রেণীর চরিত্রের ভাষায় সাদৃশ্য থাকতে পারে।

টীকা ও উৎস নির্দেশ

১. "...expression of the meaning in words, and its essence is the same both in verse and prose" [*Aristotle's Poetics* / W. Bywater]
২. "...but the decision between verse as a whole and prose as the most suitable medium for tragedy remains to be taken." [A. Nicol / *The Theory of Drama* | p. 140 | Ed. 1969]
৩. "Do not overemphasize dialogue. Remember that it is the medium of the play, but not greater than whole" [Lajos Egri / *The Art of Dramatic Writing* | New York, 1963 | p. 243]
৪. "কোন ভাষা সম্প্রদায়ের অন্তর্গত ছোট ছোট দলে বা অঞ্চল বিশেষে প্রচলিত ভাষা ছাঁদকে উপভাষা (dilect) বলে।" [সুকুমার সেন / 'ভাষার ইতিবৃত্ত' / সং. ১৯৬৩ / পৃ. ০৫]
৫. "দ্বিবিধ হি দোষঃ—কবেরব্যুৎপত্তি কৃতোহশক্তি কৃৎশ্চ।" ['ধন্যলোক', ৩/৬]
৬. দ্র. : হেমেন্দ্রনাথ দাশগুপ্ত / 'গিরিশ প্রীতিভা' / পৃ. ৫৮ / সং. ১৩৩৫ বঙ্গাব্দ।
৭. "ইহার নামই ভাষা।...এ কেবল চাষার ভাষাই নয়, এ-ভাষার শব্দগ্রহণে মনুষ্যজন্মের আদি ভাষাকে বাংলারীতির মধ্যে বাঁধিয়া দিতে হইয়াছে।" ['আধুনিক বাংলা সাহিত্য' / মোহিতলাল মজুমদার / ৭ম সং. / পৃ. ১৩৭-৩৮]

এবং

“...নীলদর্পণ-এর কেবল উচ্চশ্রেণীর চরিত্রগুলির উৎকট শব্দ ভাষাই নহে, নিম্নশ্রেণীর চরিত্রগুলির গ্রাম্য ভাষাও কৃতিমতা দোষে দৃষ্ট।” [প্রমথনাথ বিশী / দ্বিতীয় উদ্ঘৃতি, উৎস : ড. নিম্নলেন্দু ভৌমিক সম্পাদিত ‘নীলদর্পণ’]

৮ “যে বাক্যে একটিমাত্র উদ্দেশ্য ও একটিমাত্র বিধেয় থাকে (সমাপিকা ক্রিয়া), তাহাকে সরল বাক্য বলে, ...।” [সুনীতিকুমার চট্টোপাধ্যায় / ‘ভাষাপ্রকাশ বাঙ্গালা ব্যাকরণ’ / সং. ১৯৪২ / পৃ. ৪৩৩]

৯ “দুইটি বা দুইয়ের অধিক সরল, মিশ্র অথবা সরল ও মিশ্র বাক্যকে সংযোজক অথবা প্রান্তবোধক অব্যয়ের সাহায্যে সংযুক্ত করিয়া, একটি দীর্ঘ প্রস্তাব বাক্যবৎ গঠিত করিয়া লইলে, যৌগিক বা সংযুক্ত বাক্য হয়।” [ওই / পৃ. ৪৩৫]

১০. “কোনও কোনও বাক্যে উদ্দেশ্য এবং বিধেয় (অর্থাৎ কর্তা ও সমাপিকা ক্রিয়া) যুক্ত মূখ্য অংশ ব্যতীত এক বা একাধিক খণ্ড বাক্য বা বাক্যাংশ থাকে। এই অপ্রধান অংশ, প্রধান বাক্যেরই অংশ বা অঙ্গস্বরূপ হয়, হয় ইহাতেও সমাপিকা ক্রিয়া থাকে না ; না হয় ইহাতে সমাপিকা ক্রিয়া থাকিলেও যে, যেস্বরূপ, যেমন প্রভৃতি পদ বা অব্যয়ের মূখবন্ধ বা সহায়তার ইহা উপস্থাপিত হয়, এবং এই হেতু সমাপিকা ক্রিয়া সাক্ষাৎ বা অসমাপ্তই হয়, প্রথম বাক্যাংশেই অর্থপূর্ণি ঘটে—এইরূপ বাক্যকে মিশ্র বা জটিল বাক্য বলে।” [ওই / পৃ. ৪৩৩]

১১. “A sentence containing two or more main clauses and atleast one subordinate clause is called a compound-complex sentence.” [Gleason, H. A. / *Linguistics and English Grammar* / 1965, p. 332]

১২. দ্র. : ড. উদয়কুমার চক্রবর্তী / ‘বাংলা বাক্যের পদগুচ্ছের সংগঠন’ / ১৯৯২ / পৃ. ১৩১।

১৩. গঠনতাত্ত্বিক আলোচনার Bloomfield ‘অব্যবহিত উপাদান’ নির্ধারণের ক্ষেত্রে আন্বয়িক (syntactic constituents)-এর কথা বলেছেন। কিন্তু এর সীমাবদ্ধতা রয়েছে। যেমন—প্রশ্ন : ki khabe ?

উত্তর : śāndes—rāśogolla—doi.

I. C. অনুযায়ী সাজালে উক্তবাক্যটির ব্যাকরণসম্মত বিভাজন করা সম্ভব হচ্ছে না।

(ক) śāndes rāśogolla | doi

(খ) śāndes | rāśogolla doi

এর কোনোটিই সঠিক নয়। সুতরাং পরস্পর সম্পর্কযুক্ত খণ্ড বিভক্ত করতে গেলে দুয়ের

বেশী শ্রেণী নেওয়া ছাড়া উপায় নেই। [দ্র. : Hockett, Charles F. / *A Course in Modern Linguistics* / 1958 / p. 154-55]

১৪. “আদিতে এই তিনটি এক গ্রিবেণীর অন্তর্গত ছিল। দ্বাদশ-ত্রয়োদশ শতাব্দীর পর হইতে ওড়িয়া ধারা দূরে সরিতে থাকে।” [‘ভাষার ইতিবৃত্ত’ / সুকুমার সেন / ৯ম সং. / পৃ. ১৩৪]
১৫. “যে শব্দ উপভাষায় মূল ভাষার রূপ হইতে বিকৃত অথবা কিছু পরিবর্তিত হইয়াছে এবং যাহা সাহিত্যে অপ্রযুক্ত তাহাকে বলে অপশব্দ।” [সেন, সুকুমার / ‘ভাষার ইতিবৃত্ত’ / ৯ম সং. / পৃ. ১২]
১৬. দ্র. : ড. পবিত্র সরকার / বাংলা ভাষায় নিষেধাত্মক উপাদান (নিবন্ধ) / ‘ষা. বি. বাঙলা পত্রিকা’ / ১৯৮৫ / পৃ. ৪৩]

গ্রন্থসূচী

১. ‘ভাষাপ্রকাশ বাঙ্গালা ব্যাকরণ’ / সুনীতিকুমার চট্টোপাধ্যায় (রূপা পাবলিকেশন)।
২. ‘ভাষার ইতিবৃত্ত’ / সুকুমার সেন (ইন্সটান পাবলিশার্স)।
৩. ‘বাংলা ভাষা পরিক্রমা’ / পরেশচন্দ্র মজুমদার (সারস্বত লাইব্রেরী)।
৪. ‘ভাষা পরিকল্পনা ও সমাজভাষাতত্ত্ব’ / মনসুদর মুসা (বাংলা একাডেমি, ঢাকা)।
৫. ‘বাংলা নাটকের বিবর্তন’ / সুরেশচন্দ্র মৈত্র (ক্যালকাটা বুক হাউস)।
৬. ‘উনিশ শতকের নাট্য বিষয়’ / দর্শন চৌধুরী (পুস্তক বিপণি)।
৭. ‘দীনবন্ধু মিত্রের নাট্য সমীক্ষা’ / ভবানীগোপাল সান্যাল (মডার্ন বুক এজেন্সী)।
৮. ‘বাংলা বাক্যের পদগুচ্ছের সংগঠন’ / উদয়কুমার চক্রবর্তী (প্রমা প্রকাশনী)।
৯. ‘দীনবন্ধু মিত্র’ / সুনীতিকুমার দে (এ. মুনাজী অ্যান্ড সন্স)।
১০. ‘দীনবন্ধু রচনাবলী’ (স্বাক্ষরতা প্রকাশন)।
১১. ‘মধুসূদন রচনাবলী’ (হরফ প্রকাশন)।
১২. ‘লোকভাষা’ / আশিস দে ও সনৎ মিত্র সম্পাদিত (পুস্তক বিপণি)।
১৩. *The Art of Dramatic Writing* / Lajos Egri (New York, 1963).
১৪. *Language* / L. Bloomfield (New York, Henry, Holt & Co.).
১৫. *The Languages of Calcutta (1760-1840)* / T. W. Clerk (*Bulletin of the School of Oriental & African Studies*).

রবীন্দ্র সাহিত্য ও মুসলমান প্রসঙ্গ

লায়েক আলি খান

প্রায় আক্রমণাত্মক ভঙ্গিতে ওপার বাংলার সমালোচক রবীন্দ্রসাহিত্যে মুসলমান অনুসন্ধানের ব্যাপারে রবীন্দ্রনাথ সম্বন্ধে লিখেছেন :

“অপ্রীতিকর হলেও নির্মম সত্য, রবীন্দ্রনাথ একাদিক দিগ্নে আমাদের নিরাশ করেছেন। তাঁর খাস বাবুর্চি ফটিক সেখ অসংখ্য দিনমজুর মুসলমান প্রজা থেকে মাওলানা জিন্নাউদ্দীন ও মাওলানা আবুল কালাম আযাদের মতো মুসলিম মনীষার সঙ্গে তাঁর অন্তরঙ্গ পরিচয় লাভ হয়েছে; ইসলাম ও মুসলমান সমাজের সদর অন্দর সবকিছু ছিল তাঁর নন্দপণে। জাহাড়া তাঁর প্রত্যক্ষ পরিচয় ছিল সাদী, রুমী, জামী হাফিজের কাব্যসাহিত্যের সঙ্গে, তিনি পারস্যদেশও সফর করেছিলেন এবং সে দেশের বিগত মুসলিম সাধক ও মনীষীদের সম্বন্ধে জ্ঞানও আহরণ করেছিলেন। তবুও ইসলামের কোনো মহৎ শিক্ষা মুসলমান সমাজের কোনো মহৎ ব্যক্তিত্ব; কোনো চিত্র বা চরিত্র তাঁকে স্পর্শ করেনি। তাঁর কবিমানসকে উদ্ভুদ্ধ করেনি কবিতার বাণীমূর্তিতে বিকশিত কল্পতে। ……এর কারণ নির্ণয় মোটেই দুরূহ নয়। তাঁর কবি প্রতিভার অরুণপর্বে হিন্দু উগ্রজাতীয়তার বিকাশ তাঁকে প্রভাবিত করেছে; বঙ্কিমচন্দ্রের সাহিত্যে সাম্প্রদায়িকতার বিষ ছড়ানোর নীতি শিরোধার্য করে তিনি লিখেছেন ‘দুরাশা’ গল্প ‘হোলিখেলা’ ‘বন্দীবীর’ কবিতা; হিন্দু জাতীয়তার বোধন মন্ত্র গেয়েছেন শিবাজী উৎসব কবিতায়।^১ এজাতীয় মন্তব্যের দ্বারা উত্তেজিত না হয়ে আমাদের স্থিরভাবে বিবেচনা করতে হবে সামগ্রিক রবীন্দ্রনাথকে।

সমগ্র রবীন্দ্রসাহিত্যে মুসলমান সমাজজীবন ও চরিত্র তুলনামূলকভাবে কম হলেও একথা স্বীকার করতে হবে, রবীন্দ্রনাথই ভারতবর্ষীয় তথা বাঙালী মুসলমান সম্বন্ধে সবচেয়ে বেশী সন্নিবিচার করেছেন। রবীন্দ্র প্রবন্ধে মুসলমান সমাজ প্রসঙ্গে একাধিক আলোচনা আছে। ভারতবর্ষের সমাজ ও রাজনীতিতে মুসলমানদের ভূমিকা, হিন্দুদের মুসলমান সমাজ সম্বন্ধে মনোভাব নিয়েও মধেষ্ঠ যুক্তিপূর্ণ বক্তব্য রেখেছেন রবীন্দ্রনাথ। তবে প্রবন্ধের মতো উপন্যাসগুলিতে এই সমাজের কথা এত বিস্তৃতভাবে উপস্থিত করার অবকাশ ছিল না। ‘ঘরেবাইরে’ ‘চতুরঙ্গ’ কিংবা ‘গোরাম’ সংক্ষিপ্ত উল্লেখ মাগ্রেই সমাপ্ত হয়েছেন রবীন্দ্রনাথ। নিরপেক্ষ দৃষ্টিতে এর কারণ অনুসন্ধান প্রয়োজন।

রুমেশচন্দ্র ও মোশারফ হোসেনের পর ইতিহাসপ্রণী উপন্যাসের স্রোত কিছুটা মন্দীভূত হয়ে পড়লে সামাজিক উপন্যাসগুলিই ক্রমশ জনপ্রিয় হয়ে উঠলো! রবীন্দ্রনাথও ‘বোঠাকুরাণীর হাট’ (১৮৮০) ও ‘রাজর্ষি’তে (১৮৮৭) ইতিহাসের দিগ্বলয়ে কাহিনী বয়নের চেষ্টা করেই বর্জন করলেন। প্রায় ২১ বছর পরে ছোটগল্পের নব-নিরীক্ষা শেষে আবার কথাসাহিত্যের এলাকায়

তিনি উপস্থিত হলেন 'চোখের বালি'র সামাজিক সমস্যা নিয়ে, আর অবশ্যই তা 'বিষবৃক্ষ' কিংবা 'কৃষ্ণকান্তের উইলার'ই ঐতিহ্যানুসারী। এবং উপন্যাসে তিনি নির্বাচন করেছেন মূলত সমাজ নয়, মানুষ, ঘটনা নয়, চরিত্র, 'চোখের বালি'র ভূমিকায় সে উদ্দেশ্য ঘোষণা করেই বাংলা উপন্যাসের মোড় ফেরার ঘণ্টাধ্বনি শুনিয়েছিলেন তিনি। বলাবাহুল্য, সেসব মানুষ সমাজের এক বিশিষ্ট উচ্চশ্রেণীর অধিবাসী। ভদ্র এটিকেটযুক্ত, শিক্ষিত, নাগরিক মননধর্মী মানুষ। এদের অন্তর্গত সমস্যা কোনো ধর্মীয় গভীর নয়, এসব ক্ষেত্রে তিনি হিন্দু কিংবা মুসলমানের সামাজিক সত্তার সমস্যা নিয়ে শুভটা ভাবিত নন, ঘটটা ভাবিত আছেন মানুষের ব্যক্তিগত সমস্যা, দর্শনের জটিলতায়, মননের বৈচিত্র্যে।

এ বিষয়ে আরো কিছু গভীরতর দিক ভেবে দেখবার দরকার আছে ;—(I) রঙ্গলাল, ভূদেব কিংবা বৃষ্ণকমের মুসলমান অনুষঙ্গ ব্যবহারের ফলে তাঁদের সাহিত্য সম্বন্ধে মুসলমানদের বিরূপ প্রতিক্রিয়ার স্মৃতি তাঁর মনে থাকতে পারে।

(II) রবীন্দ্রনাথের সৃষ্টিকর্মের বিত্তীয়ার্থে বিচিত্র সাম্প্রদায়িক দ্বিধাদ্বন্দ্বের ক্ষতিবিক্ষেপ। সে সময়ে মুসলিম স্বার্থে বিঘ্নিত বলে মুসলমানরা ক্ষুব্ধ। আর হিন্দুরা ভাবছেন ইংরেজ সরকারের স্নেহছায়ায় স্বার্থপন্থ হচ্ছেন মুসলমানরা। এমত অবস্থায় ভালমন্দে মেশা তাঁর সৃষ্ট মুসলমান চরিত্র মুসলিমরা কোন্ আলোকে গ্রহণ করবেন এ বিষয়ে তিনি বৃষ্ণকমের দ্বিধাবিভবিত ছিলেন।

(III) ১৩০৫ (১৮৯৮ ?)-এ ছাপা 'দুরাশা' গল্পের জন্য তাঁর বিরুদ্ধ সমালোচনা তাঁর মনে থাকা খুবই স্বাভাবিক।^২ এসব কথা স্মরণে রেখেই আমরা রবীন্দ্রনাথের সমস্ত রচনাবলীতে ব্যবহৃত মুসলমান অনুষঙ্গ পর্যালোচনা করতে চাই। তাঁর রচিত প্রবন্ধ ছাড়া কিছু গাথা কবিতা এবং কয়েকটি ছোটগল্পে মুসলমান প্রসঙ্গ ব্যবহৃত হয়েছে। অতঃপর সংক্ষেপে সেসব রচনায় রবীন্দ্রমানসের স্বরূপ অনুসন্ধান চলতে পারে।

বঙ্গাব্দ ১৩২১ (১৯২২ খৃষ্টাব্দ) ৭ আষাঢ় অধ্যাপক কালিদাস নাগকে রবীন্দ্রনাথ যে চিঠি লিখেছিলেন ; তাতে ভারতবর্ষের হিন্দু-মুসলমান সমস্যার সমাধান খুঁজতে চেষ্টা করেছেন তিনি। শূন্য তাই নয়, 'রাজা-প্রজা' কিংবা 'কালান্তরে'র বেশ কিছু প্রবন্ধে (সমস্যা, লোকহিত প্রভৃতি) সমাজমনস্ক রবীন্দ্রনাথ এদেশের হিন্দু-মুসলমান সমস্যাটিকে যথেষ্ট বিবেচনার সঙ্গে তুলিয়ে দেখেছেন। আর যে সময়ে হিন্দু-মুসলমান পারস্পরিক বিদ্বেষ ভারতবর্ষের রাজনীতিকে ঘোলাটে করে তুলেছে, সে সময়ে মুসলমানদের স্বপক্ষে দাঁড়িয়ে কিছু নিরপেক্ষ মন্তব্য করেছেন রবীন্দ্রনাথই। সাম্প্রদায়িকতামুক্ত একটি জাতীয় দৃষ্টিভঙ্গিতে তিনি এদেশের হিন্দু-মুসলমানের সম্পর্ক বিচার করেছেন দেখতে পাই।

১৯৩৫ সালে বিশ্বভারতীতে নিজাম বঙ্কতা দেওয়ার জন্য তিনি আমন্ত্রণ জানিয়েছিলেন বিখ্যাত সাহিত্যিক কাজী আব্দুল ওদুদকে আর বঙ্কতার বিষয় নির্ধারণ করেছিলেন—হিন্দু মুসলমানের বিরোধ। এ বিরোধের জটিলতা আর 'বিভীষিকা' তাঁকে কতখানি ভাবিত করে তুলেছিল, এই বিষয় নির্বাচনে তার ইঙ্গিত আছে বলে মনে করেন ওপার বাংলার সমালোচক আব্দুল ফজল।^৩

স্বাদেশিকতার যুগে বঙ্গভঙ্গের বিরুদ্ধে যে রবীন্দ্রনাথ হিন্দু-মুসলমানের মধ্যে মিলনের রাখি

বন্ধন স্থাপন করতে পথে নেমেছিলেন, তিমি রীতিমত বাস্তব অভিজ্ঞতায় এব্যাপার উপলব্ধি করলেন যে, ইয়েরেক্সের বিরুদ্ধে লড়াই করার অবকাশে আমাদের দেশের হিন্দু-মুসলমানের সম্পর্কটাই হয়ে উঠেছে অত্যন্ত বিষাক্ত। এবং কেউ কেউ বোঝাতে চাইছেন, হিন্দু-মুসলমানের এই বিরোধের মূলে আর কিছু নয়, ইয়েরেক্সেরই ষড়যন্ত্র বশত মান। রবীন্দ্রনাথ কিন্তু একথা অস্বীকার করেন। তাঁর মনে হয়েছে এজাতীয় ভাবনা আশু-ছলনা মাত্র। “একথা বলিয়া নিজেকে তুলাইলে চলবে না যে, হিন্দু-মুসলমানের সম্পর্কের মধ্যে কোন পাপই ছিল না। ইয়েরেক্সই মুসলমানকে আমাদের বিরুদ্ধে করিয়ারাছে।^{১৪} হিন্দু-মুসলমানের সম্পর্কের ভেতরে যে এই ধর্মের স্ত্রে নিহিত তা নির্মোহ দৃষ্টিতে উপলব্ধি করেছেন রবীন্দ্রনাথ। ‘কালান্তরের ‘লোকহিত’ প্রবন্ধ থেকে জানাত পারি, স্বদেশী আন্দোলনে দরিদ্র মুসলমানরা সাক্ষিত হতে পারেন নি বলে যে সব হিন্দু স্বদেশী আন্দোলক মুসলমানদের বিরুদ্ধে বিচাঙ্গার করেছিলেন, রবীন্দ্রনাথ তাঁদের দলে ছিলেন না। (তুলনীয় : ‘ঘরে বাইরে’ উ-ন্যাসের মুসলমান প্রঃঙ্গ) বরং বৃহতে চেষ্টা করেছেন মুসলমানদের এই সরে দাঁড়বার পেছনে হিন্দুদের ঘৃণা ও অবিশ্বাস কতখানি ক্রিয়ামূল। “সং কবি বলেই সমসাময়িক কোলাহলের উর্ধ্বে তাম্বানুস্থান তাঁর পক্ষে সম্ভব ছিল। যে ক্ষুভঙ্গ আন্দোলনে তিনি এমন সর্বশক্তি নিয়ে কাঁপিয়ে পড়েছিলেন তার থেকে যখন বাঙালী মুসলমান নিরুত্তাপ উদাসীনতার সরে রইলেন তখনই তাঁর চোখ খুললো। তিনি এই সমস্যাকে তুলিয়ে বৃহলেন এবং আর পাঁচজন হিন্দুর মতোই মুসলমান সমাজকে সুবিধাদী এবং আনুগত্যের বিনিময়ে বিদেশী শাসকের কাছ থেকে বিশেষ প্রসন্ন প্রার্থী বলে গাল দিলেন না। বরং লিখলেন, “সৌন্দর্য আমরা দেশের মুসলমানদের কিছু অস্বাভাবিক উচ্চস্বরেই আত্মীয় বলিয়া ভাই বলিয়া ডাকাডাকি শব্দ করিয়াছিলুম। সেই স্নেহের ডাকে যখন তাহারা অগ্রদ গদগদ কণ্ঠে সাজা দিল না তখন আমরা তাহাদের উপর রাগ করিয়াছিলুম এটা নিতান্তই ওদের শরতানি। বরং আমাদের আত্মীয়তার ভাগিদটাই যে সুবিধাবাদী ছিল, ভিতর থেকে ভেদবুদ্ধিকে দূর না করে আত্মীয়তার দেহাই পাড়াটা যে ভংগামি—একথা যত অগ্রসর শোনাক, তিনি তো বলতে ছাড়েন নি।”^{১৫}

অন্তান্ত বেদনার সঙ্গে রবীন্দ্রনাথ স্মরণ করেছেন : “হিন্দু-মুসলমানের পার্থক্যটাকে আমাদের সমাজে আমরা এতই কৃত্রিমভাবে বে-আরু করিয়া রাখিয়াছি যে, কিছুকাল পূর্বে স্বদেশী অভিযানের দিনে একজন হিন্দু স্বদেশী প্রচারক এক গ্রাম জল খাইবেন বলিয়া তাহার মুসলমান সহযোগীকে দাওয়া হইতে নামিয়া যাইতে বলিতে কিছুমাত্র সংকোচ বোধ করেন নাই”^{১৬} গতীয় অন্ততাপে উল্লেখ করেছেন :

“গ্রামি যখন প্রথম আমার জমিদারী কাজে প্রবৃত্ত হয়েছিলুম, তখন দেখেছিলুম কাছারিতে মুসলমান প্রজাকে বসতে দিতে হলে জাজিমের একপ্রান্ত তুলে দিয়ে সেইখানেই তাকে স্থান দেয়া হতো।”^{১৭} ‘এই কৃত্রিম অভিজ্ঞতাটা এতো লিপ্তত করেছিল রবীন্দ্রনাথকে যে, অস্তিত ৫/৬ বার এর উল্লেখ করেছেন তাঁর নানা রচনায়।^{১৮}

বলা বাহুল্য, রবীন্দ্রনাথের পারিবারিক জীবনে ইসলামিক ঐতিহ্যের মিশ্রণ ঘটলেও (এটা সম্ভব হইছিল বিশেষ করে রামমোহন রায়ের সাযুজ্যে। যে রামমোহনের মননে ইসলামিক ঐতিহ্যের

যথেষ্ট বিস্তৃতি ছিল।^{১০} এবং মহাবীর প্রাথমিকীয় ফার্সি জ্ঞান সত্ত্বেও দেখা যায় মুসলমান সম্প্রদায়ের উর্দু-শতাব্দী শিক্ষিত হিন্দুদের যে অবজ্ঞা তা থেকে তার পরিবার ও মৃত্যু হতে পারেনি। তাই শেষ পর্যন্ত হিন্দু-মুসলমানের মৈত্রীর ব্যাপারে তিনি বলেন, “হিন্দু-মুসলমানের মিলন যুগ পরিবর্তনের অপেক্ষায় আছে।”^{১১} এবং প্রায়শই এই মিলনের সঙ্গে তাকে ভারতীয় ঐতিহ্য এবং ঐপনির্বাদিক মিলন মনন উচ্চারণ করতে হয়েছে।

অথবা ‘গোরা’ রচনার পূর্ববর্তী সময় পর্যন্ত রবীন্দ্রনাথ যে ভারতবর্ষের চিত্র অঙ্কন করেছেন ‘সে হিন্দু ভারত’^{১২}। ১৮৬৭-তে নবগোপাল মিত্র প্রতিষ্ঠিত হিন্দু মেলার সঙ্গে ঠাকুরবাড়ীর সহযোগিতা ও সংযুক্তি ঘটেছিল। তারই এক বার্ষিক অধিবেশনে কিশোর রবীন্দ্রনাথ পাঠ করেন তার ‘হিন্দুমেলা উপহার’ কবিতা। কিংবা ১৮৭৭-এর অনুষ্ঠানে পাঠ করেন ‘দিল্লী-দরবার’ কবিতা। এই সময়ে কিশোর রবীন্দ্রনাথ সমকালীন পূর্বসূরীদের (রঙ্গলাল, বীকম, জ্যোতিরিন্দ্রনাথ প্রমুখ) কাব্য, নাটক ও কথা সাহিত্যে মুসলমান শাসকদের ভারত শাসনের অত্যাচারে ক্ষুব্ধ হিন্দু ভারতবাসীর অঙ্গগত অ-সুখের ঐতিহ্যকে মান্য করেছেন। এই ঐতিহ্যানুসরণ চলেছে ১৯০০-তে প্রকাশিত ‘কথা’ এবং ‘কাহিনী’র গাথা ধর্মী কাব্যগুলিতেও। এ সম্বন্ধে নিতান্ত একালের একটি নিরপেক্ষ সমালোচনা উদ্ধার করা যেতে পারে:

“কথা ও কাহিনীর ‘হোরীখেলা’ কবিতাটি আমাকে অল্প বয়সেই খুব বিচলিত করেছিল। শিশুপাঠ্য রামায়ণ-মহাভারতের কল্যাণে এদেশের শিশুদ্বারাও তো জানে যে, শতৃৎসিন্দু নিরস্ত হয়, বা পৃষ্ঠ প্রদর্শন করে, তাহলে রণক্ষেত্রেও কোনো যথার্থ বীর তাকে হত্যা করে না। অথচ যে রাজপুত্ররা আমাদের বীরত্বের আদর্শ, যে রাজপুত্র রমণীর অসাধারণ আত্মসম্ভ্রমবোধ তাকে স্বেচ্ছায় মৃত্যুবরণের বীরত্বে উৎসাহ করে তো সেই রাজপুত্র রমণী কি করে পাঠান কেসর থাকে কপট হোলি খেলায় আত্মন করে সানুচের তাকে এমন ক্রুরভাবে হত্যা করতে পারলো?...‘যে পথ দিয়ে পাঠান এসেছিল সে পথ দিয়ে ফিরলো না কো তরা।’ শেষ পর্যন্তের এই দীর্ঘশ্বাসটুকুতে ছলনাময়ী আত্মভঙ্গকারীদের প্রতি যথেষ্ট বিস্ময় যে নেই, এতে আমাদের বিচারবোধ আহত হয়, স্বীকার না করে উপায় নেই।”^{১৩}

তবে এই সময় থেকেই রবীন্দ্রনাথ বিশুদ্ধ মানবতার সঙ্গে ধর্মীয় সংকীর্ণতার বিরোধে মানবতার স্বপক্ষে দাঁড়াতে চাইছেন এও দেখা যাবে। (এই মানসম্বন্ধ বোধ করি ‘গোরা’ রচনার আগে পর্যন্ত তার মনে চলেছিল।) ‘সত্যী’ নাটকটিতে তার প্রমাণ আছে। যখন স্বামীর খুদী হিসাবে অমাবাই যখন ধর্মান্ধ পিতাকে প্রহর করে—

‘যখন হ্রাস্তন

শে ভেদ কাহার ভেদ? ধর্মের সে নয়।’^{১৪}

অমার এই বক্তব্যে রবীন্দ্রনাথেরই অনুভব উচ্চারিত নিঃসন্দেহে। এই নাটকটিতে রবীন্দ্রনাথের নিরপেক্ষতার প্রমাণ করেছেন বাজী আশুদল ওদুদু।^{১৫} এছাড়া ‘কথা’ কাব্যের মধ্যে মুসলিম অনুষ্ণ আছে ‘বন্দীবীর’, ‘মানী’, ‘প্রাথনাতীত দান’, ‘শেষ শিক্ষা’, ‘বিসরক’ প্রভৃতি কবিতায়।

‘মানী’ কবিতায় রবীন্দ্রনাথ যথেষ্ট সহানুভূতির সঙ্গে মোঘল সম্রাট উরঙ্গজেবকে চিত্রিত

করেছেন। 'বন্দীবীর' কবিতার আছে 'রক্তপাগল' মস্ত মোঘলদের চিত্র। 'শেষ শিক্ষা' কবিতায় শিক্ষাগুরু গোবিন্দ সিং পাঠানকে হত্যা করে তার বালক পুত্র মামদকে মান্দুয করার দায়িত্ব শ্বেচ্ছায় পালন করেন। তাকে শাস্ত্রবিদ্যায় পারদর্শী করে তোলেন পুত্রগ্নেহে। তারপর তাকে সব কথা বলে তার পিতার হত্যাকারীকে হত্যা করে প্রতিশোধ নিতে প্ররোচিত করেন। গভীর অরণ্যে একবার মামদ অস্ত্র তুলেও বিরত হয়েছে। তার অন্তস্তপ্ত ও অশান্ত হৃদয় বলে উঠেছে :

... হে গুরুদেব, লয়ে শয়তানে
কোরোনা এমনস্তরো খেলা।.....
...ছেয়ে থাক মনে সেই স্নেহ
ঢাকা পড়ে হিংসা থাক মরে।^{১৫}

তবু শেষ রক্ষা হয় নি। শতরঞ্জ খেলায় বসিয়ে শিষ্যকে গুরু বিদ্রূপবাণে উত্তোজিত করে তোলেন। এবং মামদ উত্তোজিত অবস্থায় গুরুকে হত্যা করেন। এই হত্যার দৃশ্যে গুরুগোবিন্দ মামদের চাইতে উজ্জ্বলতর হয়েছেন ঠিকই কিন্তু হত্যাকারী মামদকেও আমাদের বিবেচক মন ক্ষমাসুন্দর চক্ষে দেখে।

প্রায় সমকালে মহারাষ্ট্রে তিলক প্রবর্তিত গণপতি পূজা ও শিবাজী উৎসব (১৮৯৫) শুরু হয়। বাংলাদেশেও তার জের চলে। সখারাম গণেশ দেউস্করের 'শিবাজীর দীক্ষা (১৯০৪) গ্রন্থের ভূমিকা লিখতে অনুরুদ্ধ হয়ে রবীন্দ্রনাথ লিখে ফেলেন তাঁর বিতর্কিত কবিতা 'শিবাজী উৎসব'। এই কবিতা পাঠে মুসলমান সেন্টিমেন্ট আহত হয়েছিল রীতিমত। 'শিবাজী উৎসব'-এ রবীন্দ্রনাথ মারাঠী বীর শিবাজীকে নতুন দৃষ্টিভঙ্গীতে বিচার করেছেন। মোগল বিরোধী শিবাজী রবীন্দ্রনাথের কবিতায় আদর্শ বীর ও অখণ্ড ভারতের স্বপ্নদ্রষ্টা এক মহানায়ক হিসেবে চিত্রিত হয়েছেন। ফলে দেখা দিল সমস্যা। "শিবাজী উৎসব আন্দোলন হিন্দু জাতীয়তাবোধ হইতে উদ্ভূত; শিবাজী মহারাজ মুগলদের বিরুদ্ধে যুদ্ধ করিয়া হিন্দুরাজ্য স্থাপন করেন। সুতরাং শিবাজী সম্বন্ধে গৌরববোধ হিন্দুদেরই হওয়া সম্ভব, মুসলমানদের নহে; সুতরাং বিংশ শতাব্দীতে এই শ্রেণীর কোনো বীরকে অখণ্ড ভারতের স্বাধীনতার প্রতীকরূপে গ্রহণ করা সম্ভব নহে। রবীন্দ্রনাথ বোধহয় এই কবিতাটির দুর্বলতা কোনখানে তাহা আবিষ্কার করিতে পারিয়াছিলেন। এবং উজ্জ্বল তঁহার কোনো কাব্য গ্রন্থে স্থান দেন নাই।"^{১৬} (কবিতাটি বর্তমান প্রচলিত সঞ্জয়তায় অবশ্য প্রাপ্তব্য)। এজন্য রবীন্দ্রনাথের বিরুদ্ধে আরো অভিযোগ আছে : "অথচ সৃষ্টির চিত্রে একথা বিবেচনা করা সম্ভব হতো, ১৯০৪-৫ সনের পটভূমিতে যখন হিন্দু-মুসলমান অতৈক্যের সমস্যা জটিলতার উদ্বোধনক হয়ে উঠেছে, যখন আত্মিক সহ্যতির জন্য মুসলমান নেতৃবৃন্দের সহযোগিতা কামনা করা হাছিল, তখন মোঘল বিরোধী সন্নয়ন নায়ক শিবাজীকে জাতীয় ঐক্যের প্রতীক হিসাবে উপস্থাপিত করলে মুসলমান সমাজের বিচ্ছিন্নতা-বাদীদের প্ররোচিত করার বিলক্ষণ আশংকা।"^{১৭}

যখন হিসেবে এইখানে উল্লেখ করার দরকার আছে যে, এই কবিতার বিরূপ প্রতিক্রিয়া সম্বন্ধে রবীন্দ্রনাথও চিন্তিত ছিলেন। তাই এর তিনমাস পরে শান্তিনিকেতনে ৭ পৌষ যে ভাষণ দিলেন

ভাষ্যে যেন উৎসবের উদ্দেশ্য ও স্বরূপ কি তা বোঝাবার জন্য পাঠ করলেন 'উৎসবের দিন' প্রবন্ধটি ।

'উৎসবের দিন' প্রবন্ধের আলোকে 'শিবাজী উৎসব' কবিতাটি নতুন তাৎপর্য পেয়ে যায় ।
দেবক্রমে শিবাজী হিন্দু ছিলেন । এবং তাঁর বিরোধী রাজশক্তি ছিলেন মুসলমান । তাই 'শিবাজী
উৎসব' সমালোচিত হলো স্থূল বিভেদের বৃদ্ধিতে । কবিতাটিতে ইতিহাসের যে নতুন মূল্যায়ন
করেছিলেন রবীন্দ্রনাথ তা তাঁর দার্শনিকতার সঙ্গে অপরিচিতরা ভুল ব্যাখ্যা করবেন এটাই
স্বাভাবিক । আসলে শিবাজী উৎসবে রবীন্দ্রনাথের বক্তব্য ছিল :

ব্যক্তি শিবাজী নয়, তাঁর আক্রমণাত্মক বর্ণাদল নয়, তাঁর ধর্মগণ্ডীবব্ধ আকাণ পাগল করা
'হর হর' বোল নয়, কেবল 'শিবাজী' একটি আইডিয়া, একটি নাম, একটি ঐক্যবন্ধ মানবিক
ভারতরাষ্ট্রের স্বপ্ন কবির চাঁপিস্ত—

আজি তব নাহি ধ্বজা, নাই সৈন্য, রণ অশ্বদল,

অস্ত্র খরতর—

আজি আর নাহি বাজে আকাশে করিমা পাগল

'হর হর হর'

শুদ্ধ তব নাম আজি পিতৃলোক হতে এল নামি

করিল আহ্বান—

মুহুর্তে স্বদয়ানে তোমারেই বরিল হে স্বামী

বাঙালীর প্রাণ ।^{১৮}

বলাবাহুল্য, কবিতাটির জন্য রবীন্দ্রনাথকে ভুল বুঝেছেন কেউ কেউ । "রবীন্দ্রনাথ শিবাজী
উৎসব লিখে হিন্দুধর্মের পুনরুজ্জীবন কর্মে প্রত্যক্ষভাবে যোগ দেন এবং শুভ শব্দনাদে জয়তু
শিবাজী উচ্চারণ করে ঐ ধ্যান-মগ্নে দীক্ষা গ্রহণ করেন ।"^{১৯} কবিতাটির এরকম ব্যাখ্যাও যে করা
যায় না, তা হয়তো নয় । কিন্তু রবীন্দ্রনাথের বক্তব্য তা ছিল না । 'এক ধর্মরাজ্য পাশে' বলে যে
রবীন্দ্রনাথ হিন্দুধর্ম বোঝাতে চান না— একথা কাকে তিনি বোঝাবেন ? দুর্ভাগ্য কবির এইখানে যে,
শিবাজী ব্যক্তধর্মে হিন্দু । তাই 'উৎসবের দিন' প্রবন্ধে পরিষ্কার করে বোঝাতে চাইলেন ধর্ম বলতে
তিনি কি বোঝেন ? উৎসব কি ও কেন ?

কবির রচনার 'নানা অর্থ' করার অধিকার পাঠকের আছে । কিন্তু কেবল সরল অর্থটুকুই অনেক
সময় বিপত্তির কারণ হয়ে উঠতে পারে । আহত করতে পারে শিষ্য ও তার ব্রহ্মচর্য । রবীন্দ্রনাথও
আহত হয়েছিলেন । একথার প্রকৃষ্ট প্রমাণ একাধিকবার কবিতাটিকে তাঁর সৃষ্টি সম্ভার থেকে বাদ
দেবার চেষ্টা ।^{২০} একথা ঠিক 'উৎসবের দিন' যে 'শিবাজী উৎসব' কবিতার প্রত্যক্ষ প্রভাবজাত—
এটা প্রবন্ধটির কোথাও স্পষ্ট করা হয়নি ! কেবল আমরা অনুমান করি যে, 'শিবাজী উৎসব'
রচনার তিনমাস পরে (ভাদ্র-পৌষ) কবি কবিতাটির একটি কবিভাষ্য রচনা করতে চেয়েছিলেন
উভয়পক্ষের মত চেয়ে এইজন্য যে, যারা শিবাজীকে নিয়ে গোষ্ঠীচেতনায় উদগ্র হিন্দু জাতীয়তার
জয়গান গাইছেন এবং নিজের দলের লোক হিসেবে রবীন্দ্রনাথকেও পেয়ে গেছেন বলে আনন্দ
করছেন আর অন্যপক্ষ ব্যথিত ও মর্মান্বিত হছেন—কারোরই ধারণাটা ঠিক না । তবে নিজের বক্তব্য

সম্বন্ধে চিরকাল দায়িত্বশীল রবীন্দ্রনাথ কবিতাটির বক্তব্যের দায়িত্ব না এড়িয়ে আত্মপক্ষ সমর্থনের নিজস্ব পন্থীতে বেছে নিয়েছেন। লিখেছেন অন্য আর একটি রচনা — ‘উৎসবের দিন’।

এক উদার বিশ্বাসবোধে উদ্দীপ্ত মানসিকতার মুসলমান সমাজকে দেখার চেষ্টা রবীন্দ্রকাব্যে দীর্ঘ ‘পুনর্নব’ কাব্যের বেশ কয়েকটি কবিতায়। বহুখ্যাত ‘গদ্য’ কবিতার কবীর, ‘রংরঞ্জিনী’ কবিতার রংরঞ্জ জামিন ও তার কন্যা আমিনা আমাদের মনে গড়ে তুলে পারে। এই পরিচ্ছন্ন মানবতার উদার আকাশ নির্মাণ করতে হয়েছে রবীন্দ্রনাথকে ক্রমশ। আর সেই মানস-সংঘাত ও জটিল আবহের কিছু কিছু ছাপ আছে তাঁর কয়েকটি ছোটগল্প ও দু-একটি উপন্যাসে।

মুসলমান সমাজ নিয়ে কিছু রচনার ভাবনাচিন্তা কবির শব্দে হয় ১৮৯১ সালে পৈঠিক জামিদারী দেখানুনার কাজে পূর্ববঙ্গ অকস্থান করার সূত্রে।^{১২} রবীন্দ্রনাথের ছোটগল্পগুলির প্রেক্ষাপটে যে পূর্ববঙ্গের মাটি মানুষের সঙ্গে প্রত্যক্ষ যোগাযোগের ফলশ্রুতি এ তো সন্দেহই মানে। আর পূর্ববঙ্গের রাস্তা প্রজাদের মধ্যে মুসলমানের সংখ্যাধিক্য। ফলে সঙ্গত কারণে জামিদার রবীন্দ্রনাথ মুসলমান প্রজাসাধারণ সম্বন্ধে কৌতূহলী হতেই পারেন। কিন্তু দুঃখ এইখানে যে, এই মুসলমান সমাজ তাঁর রচিত গল্পে তেমন নেই, যেমন আছে কল্পনা ও রোমান্স নির্ভর গুট ও পদ্ম-পাহা।

মুসলিম চরিত্রবৃত্ত রবীন্দ্রনাথের প্রথম ছোটগল্প দালিয়া (১৯১৮)। এটি একটি রোমান্স জাতীয় রচনা। প্রাচীন পূর্ববঙ্গ গণিতকার আরাকান রাজের দ্বারা ঔরঙ্গজেবের দ্রাভা সা সুজার ভাগ্য বিপর্যয়ের ঝকঝক কাহিনী পাওয়া যায়। দালিয়া গল্পের পেছনে ও পূর্ববঙ্গের জনজীবনে বিকীর্ণ এইরকম কোনো কাহিনীর ভয়ঙ্কর রূপ আছে কিনা আমাদের জানা নেই। থাকলেও বিস্মিত হবার কিছু নেই। তবে গণিতকার মতো করণ পরিণামী না করে এই গল্পটির এক মিলন মূর উপসংহার উপহার দিয়েছেন রবীন্দ্রনাথ। সংক্ষেপে গল্পটি হোলো : সা সুজার কন্যা আমিনা। আমিনা এক ধীর গৃহে পালিতা। দালিয়া বলে এক যুবকের সঙ্গে সেখানে তার পরিচয় ও প্রণয়। আরাকান রাজই সা সুজার পরিবারের ভাগ্য বিপর্যয়ের হেতু। তাই যখন আরাকান রাজপুত্র আমিনাকে বিবাহ করতে চান, তখন ভয়ী জুলেখার পরামর্শে তাকে হত্যা করতে গিয়ে আমিনা দেখে এই যুবরাজ আর কেউ নয়, তার একদা প্রেমিক দালিয়া।

গল্পটিতে মুসলমান-অ-মুসলমানের প্রণয় সম্পর্কের জটিলতা এড়িয়ে যাওয়া হয়েছে। কেবল নারিকার প্রথম প্রণয়ীকে বর্জন করে রাজপুত্রকে ইচ্ছার বিরুদ্ধে বিবাহে সম্মতি দিতে গিয়ে আমিনার মানসবন্ধকে প্রাধান্য দেয়া হয়েছে। তাছাড়া আমিনার মনে ধীরকন্যা ও রাজকন্যার ঐশ্বর্য সত্তার টানাপোড়েন দেখাবার একটা চেষ্টাও করেছেন লেখক। কিন্তু সবটাই আত্ম রোমান্সের প্রেক্ষাপটে। এ গল্পে মুসলিম সমাজজীবন, তার আদর্শ কিংবা বাদশাহী জীবন বৃত্তেরও কোনো বাস্তব প্রসঙ্গ বর্ণিত হয়নি।

এর পরের বছর (১৯১৯) লেখা হয়েছে মুসলমান জীবন প্রসঙ্গ নিয়ে দুটি ছোটগল্প। ‘রীতিমত্ত নভেল’ ও ‘কাবুলিওয়াল’। রীতিতে কোনো মুসলমান চরিত্র নেই। কেবল গল্পের নায়ক লালিত সিংহের বীরত্ব প্রদর্শনের জন্য প্রথমে দিকে মুসলমান ইতিহাসের প্রেক্ষাপট ব্যবহৃত।

‘যবন সৈন্য’ এবং ‘ম্লেচ্ছ’ কণ্ঠের ‘আল্লাহো আকবর’ ধ্বনি শ্রুত হয়েছে মায়। যা একটি পরবর্তীকালে শিখ, মারাঠা, রাজপুতাদের সঙ্গে মুসলমানদের সম্পর্ক নিয়ে লেখা কবিতাগুলোর প্রসঙ্গ স্বরণ করিয়ে দেয়।

‘কার্বুলওয়াল’ গল্পটির রহস্যময় রবীন্দ্রনাথের অঁকা অন্যতম শ্রেষ্ঠ মুসলমান চরিত্র। কিংবা রহস্যময় মুসলমান চরিত্র কথটা ঠিক না। রহস্য এই গল্পে মুসলমান নয়, খুনী নয়; সে মানুষ, সে চিরন্তন পিতা। তার পিতৃহত্যার রূপাকর্মে সুন্দর কারুকের পাহাড়ী পটভূমি ও কোলকাতার গলির প্রেক্ষাপট একাকার হয়ে গেছে। হয়তো এই গল্পের বীজ কোলকাতার গলিতে গলিতে ঘুরে বেড়ানো কোনো এক কার্বুলীর সাথে প্রত্যক্ষ পরিচয়ের অভিজ্ঞতা থেকেও সংগৃহীত হতে পারে। কিন্তু কাহিনীর মধ্য দিয়ে লেখক যেখানে আমাদের পেঁচে দিয়েছেন তা কোনো নির্দিষ্ট দেশ কাল পাত্রের মধ্যে আবদ্ধ নয় আর। সন্তানের জন্য প্রবাসী পিতার অন্তরে যে বেদনা, তাতে শাব্যত কালের একটি মাত্রা জুড়ে দিয়েছেন লেখক। ১৯৯৯-এ ছাপা সেনারত্নীর ‘যেতে নাহি দিব’ কবিতায় যে দার্শনিকতা—এ গল্প তার প্রাক্ক-প্রস্তুতি বলে মনে হয়।

১৩০০-তে প্রকাশিত ‘সমস্যাপূরণ’ গল্পটি সমকালের রক্ষণশীল হিন্দুসমাজের পক্ষে রীতিমত অস্বস্তির কারণ হয়ে দাঁড়িয়েছিল। এই গল্পে আছে বিঁকড়া কোটার জমিদার কৃষ্ণগোপালের পুত্র বিপিনবিহারী আছিহুদ্দার সঙ্গে মামলায় জড়িয়ে পড়ে। আছিহুদ্দার বৃদ্ধা মা বিহারীকে মামলা থেকে নিরস্ত করতে গিয়ে ব্যর্থ হন। আছিহুদ্দা বিপিনবিহারীকে আঘাত করতে গিয়ে পুঁলিশে ধরা পড়লো। এইসব জটিলতায় বিপিনবিহারীর কাশীবাসী পিতা হঠাৎ এসে বিপিনবিহারীকে এই গোপন সংবাদটি দিলেন যে—আছিহুদ্দা তার ঔরষজাত সন্তান। এই সংবাদে মামলাটা স্থগিত রইল এবং বিপিনবিহারী নিজেকে যবনীর গর্ভে সন্তান উৎপালকারী পিতার চাইতে অনেক শ্রেষ্ঠ মনে করলো।

গল্পটিতে রবীন্দ্রনাথের দুসাহসিকতার পরিচয় আছে। হিন্দু স্বাভাব্যতার যুগে হিন্দু জাতীয়তার সূত্রে যখন উত্তর সম্প্রদায়ের মনোভাব রীতিমত ত্তস্ততার দিকে যাচ্ছে, সেই সময়ে হিন্দু জমিদারের সঙ্গে মুসলমান নারীর নিষিদ্ধ প্রণয় ব্যক্ত করে রবীন্দ্রনাথ আশ্চর্য্য হিন্দুসমাজকে প্রবল ধাক্কা দিয়েছিলেন নিঃসন্দেহে। তাই বোধকরি সুদেশ সমাজপতি এই গল্পটি সম্বন্ধে লিখেছেন :

যবন পুত্রের জন্মনাত্মা স্বয়ং কৃষ্ণগোপাল যে কথটা ছেলেকে নির্জন বটতলায় ডাকিয়া ‘কাম্পত স্বরে’—চুপচুপ বলিলেন এবং আকাশক হইলে লোকের কাছে বলিতে বলিয়াছিলেন, সে কথটা রবীন্দ্রবাবু কির অঙ্গুলিতে লেখনী ধরিয়া অকাম্পত ভাষায় লিপিবদ্ধ করিবার এমন কি আবশ্যিকতা অনুভব করিলেন? বলাবাহুল্য যে, বর্তমান গল্পের বিষয় রবীন্দ্রবাবুর মত লেখকের সম্পূর্ণ অনুপযুক্ত।^{১২২}

এ জাতীয় সমস্যা দেখা দিতে পারে ভেবেই কি রবীন্দ্রনাথ গল্পটি তৎকালে প্রকাশ করতে চান নি?^{১৩}

পরবর্তী গল্প 'ক্ষুধিত পাষণ' (১৩০২) মুসলমান অনুষ্ণের প্রয়োগে এক অসাধারণ সৃষ্টি। গল্পটির সমস্ত অবয়বে লুপ্ত প্রায় মুসলমান যুগের এক রম্য বাস্তবরণ ব্যবহৃত। এই গল্প লেখার একই আগে (১৮৯৪, সেপ্টেম্বর ৫) কবি ইন্দিরাদেবীকে লিখোছিলেন, "সেই পারস্য এবং আরবদেশ ডামাস্ক, সমরকন্দ, বখারা, আঙ্কুরের গুচ্ছ, গোলাপের বন, বুলবুলের গান সিরাজের মদ মরুভূমির পথ, উটের সার ঘোড়সোওয়ার পথিক, ঘন খেজুরের ছায়ার স্বচ্ছ জলের উৎস... এই রহস্যপূর্ণ অপরিচিত, এই ঐশ্বর্যময়, সৌন্দর্যময়, অখচ ভয়ভীষণ বিচিত্র প্রাসাদে মানুষের হাসিকান্না আশাআকাঙ্ক্ষা নিয়ে কত শত সহস্র রকমের সম্ভব অসম্ভব গল্প তৈরী হচ্ছে।"২৪

ক্ষুধিত পাষণের স্বপ্নময়তার যে ভয়ানক সৌন্দর্য ও মোহনীয় রহস্য সঞ্চারিত, তার সঙ্গে আরব্য রজনীর সংযোগের কথা এই গল্পের মধ্যেই ব্যক্ত হয়েছে একাধিকবার। ইন্দ্রিয়ময়তার সঙ্গে নাটকীয় উদ্বেগ, উদ্দাম কল্পনার সঙ্গে রক্তমাংসের বাসনারিবিড় সংযোগ, অবিদ্যায় মূল্যোৎকর্ষের সঙ্গে জীবিত জগতের শক্তিশালী মেলবন্ধন ঘটতে মুসলমানযুগের প্রেক্ষাপট, নাচের বৃত্তুরের ছন্দ, গানের মঞ্জলিসের অনুষ্ণ গল্পটিতে ব্যবহৃত। 'স্বপ্ন' কবিতায় যে কবি ভাষাতুলেবাওরা যুগের মালিকাকে খুঁজে উজ্জ্বলিনী পারে চলে যান তার পক্ষে 'সব বুট হ্যান্ড'-এর বাস্তবরণ ও দুর্দমনীয়ভাবে আকর্ষক হবে তাতে আশ্চর্যের কিছু নেই। বলাকার 'সাজাহান কবিতায়ও দিল্লীর পথের খুলায় মোগলযুগের নুপূর নিরুণ খুঁজেছেন কবি একই রোমান্টিক অভীপ্সায়।

সিপাহী বিদ্রোহের প্রেক্ষাপটে মুসলমান রমণীর হিন্দু নামকের প্রতি প্রেম নিবেদন ও প্রত্যাখ্যাত হবার বিষয় নিয়ে লিখিত হয়েছিল দুরাশা (১৩০৫) গল্পটি*। বীকমের দুর্গেশনন্দিনী কিংবা জুসেবের 'অগ্নুরায়ী বিনিময়ের' পরবর্তীকালে লেখা এই গল্পে রবীন্দ্রনাথ কিন্তু ব্রাহ্মণ নামকের দ্বারা মুসলমান নারীর প্রেমকে প্রতিহত করিয়েছেন। সিপাহী বিদ্রোহের প্রতি বদ্বাওনের নবাব গোলাম কাদের খানের কন্যার আগ্রহ এবং তার পিতার সিপাহী বিরোধীতার সূত্রে বিদ্রোহী সিপাহী ব্রাহ্মণ কেশরলালের প্রতি তার অনুরাগ যথেষ্ট মনস্তৃষ্ণময়।

এই গল্পের আরো একটি দুঃসাহসী প্রসঙ্গ হোলো নবাব কন্যা ব্রাহ্মণ কেশরলালের দ্বারা প্রত্যাখ্যাত হয়ে কাশীর শিবানন্দস্বামীর কাছে খোঁগিনী সেজে সংস্কৃত শাস্ত্র অধ্যয়ন করেছে। এই গল্পের কথক বলেছেন, "হিন্দুশাস্ত্রে আছে, জ্ঞানের দ্বারা, উপস্যার দ্বারা শূদ্র ব্রাহ্মণ হইয়াছে, মুসলমান ব্রাহ্মণ হইতে পারে কিনা সে কথার কোনো উল্লেখ নাই। তাহার কারণ শুখন মুসলমান ছিল না।"২৫. সংস্কৃত পাঠের জন্য মুসলমান নারী শিবানন্দস্বামীর অনুমোদন পেরিয়েছিল। রবীন্দ্রনাথের এ সিদ্ধান্ত কাণ্ডনিক। এই সূত্রে একথা মনে পড়ে যায়, এই গল্প লেখার অনেক পরেও ডঃ শহীদুল্লাহ কোলকাতা বিশ্ববিদ্যালয়ে সংস্কৃত পড়ার অনুমতি পাননি মুসলমান হবার জন্য।২৬

* কেশরলালের গল্পটা পেয়েছি মগজ থেকে। চতুর্মুখের মগজ আছে কিনা জানিনে। কিন্তু তিনি কিছু না থেকে কিছুকে সেভাবে গড়ে তোলেন এও তাই। রবীন্দ্রনাথ / 'প্রবাসী', জ্যৈষ্ঠ, ১৩০৯।

‘দুরাশা’ গল্পটির বক্তব্য এইটুকুই শব্দ নয় যে, এখানে মুসলমান রমণী ব্রাহ্মণের প্রেমার্থিনী হয়ে প্রত্যাখ্যাত। কিংবা এ নয় যে যখনই সংস্কৃত শিখতে পারেন কি পারেন না ?

গল্পটির climax দাঁড়িয়ে আছে গল্পের উপসংহারে। যে ব্রাহ্মণের দোহাই দিয়ে কেশরলাল মুলমানীকে উপেক্ষা করে, সেটা আসলে তার একটা সংস্কার মাত্র। পরিবেশের বদলের সঙ্গে সঙ্গে খোলসের মত তা খসে পড়েছে কেশরলালের জীবন থেকে। দার্জিলিং-এ ভুটিয়া পরিবারের মেয়েকে বিয়ে করে সন্তান উৎপাদন করে সে পতিত জীবনযাপন করছে। পক্ষান্তরে শাস্ত্র অধ্যয়ন সেরে ব্রাহ্মণের উন্নীত মুসলমান নারী, (যার রক্তে পিতামহীর সূত্রে ব্রাহ্মণত্ব ছিল) কি পেলে সমস্ত জীবনে ? ব্রাহ্মণের দোহাই দেয়া সমকালীন হিন্দু সংস্কারকে এখানে তীব্র আঘাত করেছেন রবীন্দ্রনাথ।

এই দুরাশা গল্পটির জন্যও রবীন্দ্রনাথ সমালোচিত হয়েছিলেন।

‘দুরাশা’ গল্পের প্রায় বিপরীত প্লট নিয়ে লিখিত হয়েছিল ‘মুসলমানীর গল্প’ (১৯৩১ ?) হাবির খাঁর মেজো ছেলে করিমের প্রেমে আমল তারই ঘরে আশ্রিতা কমলা। সে সেখানে তার নিজস্ব ধর্ম বজায় রাখার প্রতিশ্রুতি পেয়েছে। পেয়েছে নারীর সম্মান। কিন্তু সেখানে সে অনুভব করেছে ক্রমান্বয়ে আর এক বৃহত্তর মানবতার পরিমণ্ডল। হাবির খাঁর কাছে তার আত্মসমীক্ষা : “বাবা আমার ধর্ম নেই, আমি যাকে ভালোবাসি সেই ভাগ্যবানই আমার ধর্ম। যে ধর্ম চিরদিন আমাকে জীবনের সব ভালবাসা থেকে বাঁচত করেছে, অবজ্ঞার আশ্রয়কুণ্ডের পাশে আমাকে ফেলে রেখে দিয়েছে সে ধর্মের মধ্যে আমিতো দেবতার প্রসন্নতা কোনদিন দেখতে পেলুম না। সেখানকার দেবতা আমাকে প্রতিদিন অপমানিত করেছে, সে কথা আজও আমি ভুলতে পারিনে। আমি প্রথম ভালবাসা পেলুম, তোমার ঘরে। জানতে পারলুম হতভাগিনী মেয়েরও জীবনের মূল্য আছে। যে দেবতা আমাকে আশ্রয় দিয়েছেন, সেই ভালবাসার সম্মানের মধ্যে তাঁকেই আমি পূজো করি, তিনিই আমার দেবতা—তিনি হিন্দুও নন, মুসলমানও নন। তোমার ছেলে করিম, তাকে আমি মনের মধ্যে গ্রহণ করেছি—আমার ধর্মকর্ম ওরই সঙ্গে বাঁধা পড়েছে। তুমি মুসলমান করে নাও আমাকে, তাতে আমার আপত্তি হবে না—আমার না হয় দুই ধর্মই থাকলো।”^{২৭}

হৃদয় জাগ্রত হলে ধর্মের কাটা তারের বেড়া যে বিনষ্ট হয়ে যায় কমলা মেহেরজান হয়ে তা প্রমাণ করে দিয়েছে। ‘মানুষের ধর্ম’ বিশ্বাসী রবীন্দ্রনাথ এই উদারতার ভুবনে ‘গোলা’র সময় থেকে পৌঁছতে চেয়েছেন।

সমগ্র রবীন্দ্র সাহিত্যে মুসলমান সমাজ ও চরিত্র বিষয়ে লেখালেখিতে হিন্দু-মুসলমান মৈত্রীর প্রসঙ্গ উল্লেখিত হয়েছে। এইসব উল্লেখ থেকে একটা বিষয় আমাদের কাছে প্রতিভাত হয় যে, রবীন্দ্রনাথ স্বয়ং এই মৈত্রীর ব্যাপারটিকে যথেষ্ট যত্নের ওপর প্রতিষ্ঠিত করে দেখতে বা দেখাতে পারেন নি। দেখেছেন আবেগের ভিত্তিতে। তাই বারবার ভারতীয় ঐতিহ্যের কথা, উপনিষদীয় মৈত্রীর কথা উচ্চারণ করেছেন। এবং এই মিলন সাধনের ব্যাপারে রবীন্দ্রনাথকে শেষ পর্যন্ত প্রার্থনা ও আবেদন নিবেদনে সমাপ্ত হতে হয় : “ভারতবর্ষের সেই পুরাতন প্রার্থনাকে আজ

আবার সমস্ত প্রাণমন দিয়ে উচ্চারণ করবার সময় এসেছে, শব্দ কণ্ঠ দিয়ে নয়, চিন্তা দিয়ে কর্ম দিয়ে, শ্রমসাধ্য দিয়ে, পরস্পরের প্রতি ব্যবহার দিয়ে : য এক অবর্ণঃ, যিনি এক এবং সকল বর্ণভেদের অতীত, স নো বৃন্দ্যা শব্দভয়া সংবন্দিত্ব, তিনিই আমাদের শব্দবন্দিত্ব নিয়ে পরস্পর সংযুক্ত করুন।”২৮

তথ্যপঞ্জী :

১. আবদুল মওদুদ / মধ্যবিত্ত সমাজের বিকাশ : সংস্কৃতির রূপান্তর। ইসলামী সাংস্কৃতিক কেন্দ্র, ঢাকা ১৯৮২ সং / পৃ. ৩৫১-৫২
২. সমসাময়িক পথে জীবন ও জনমত / মুস্তাফা নূরুল ইসলাম, বাংলা একাডেমী, ঢাকা ১৯৭৭, পৃ. ৫৬৪ ৬৬ এবং অথবা কাজী ইমদাদুল হক গ্রন্থাবলী বা উ. বোর্ড সং পৃ. ৪৪৩-৪৫
৩. আবদুল ফজল / ‘রবীন্দ্রনাথ ও মুসলিম সমাজ’ প্রবন্ধ, / গ্রন্থ : রবীন্দ্র প্রসঙ্গ / মৃত্তধারা, ঢাকা—ফেব্রুয়ারী ১৯৯১ / পৃ. ৩৪
৪. ‘সমস্যা’ / রবীন্দ্র রচনাবলী, ১১শ খণ্ড, জ. শ. সং / প. ব. স. ১৩৬৮ / পৃ. ১০০১
৫. গোরী আরব / হিন্দু মুসলিম সম্পর্ক—রবীন্দ্রনাথের চোখে / ‘চতুরঙ্গ’, জানুয়ারী ১৯৮৪ সংখ্যা
৬. লোকহিত / রবীন্দ্র রচনাবলী, ১৩শ খণ্ড, জ. শ. সং / প. ব. স. ১৩৬৮ / পৃ. ২২৩-২২৪
৭. অধ্যাপক কালিদাস নাগকে লেখা চিঠি।
৮. গোরী আরব / পূর্বোক্ত।
৯. কেশব চৌধুরী / ভারতীয় জাতীয়তাবাদের ভিত্তি ও স্বরূপ। পশ্চিমবঙ্গ রাজ্যপুস্তক পর্ষদ ১৯৮৪ / পৃ. ২৬৭
১০. কালিদাস নাগকে লেখা চিঠি।
১১. প্রভাতকুমার মুখোপাধ্যায় / রবীন্দ্র জীবনী ২য় খণ্ড / বিশ্বভারতী ৪র্থ সং. ১৩৮৩, পৃ. ৪১-৪৫
১২. গোরী আরব / পূর্বোক্ত। এই প্রসঙ্গে তাঁর অন্য একটি মন্তব্যও উদ্ধারযোগ্য : “সম্প্রতি আরো কিছুটা বোধ করলাম শূনে যে এই কাব্যটিকেই জাতীয় সংহতির উপজীব্য হিসাবে নৃত্যগীত সহযোগে পেশ করেছেন মমতাশঙ্করের দল। রবীন্দ্রনাথ যেখানে সন্নিবিষ্ট করেন নি সেখানে অপরে কিভাবে অবিচারের কুশাকুর উপড়ে ফেলবে বন্ধুতে পারছি না।
১৩. সতী / কাহিনী / বিশ্বভারতী ১৩৬৬ / পৃ. ৫৯
১৪. কাজী আবদুল ওদুদ / কবিগুরু রবীন্দ্রনাথ ১ম খণ্ড / শক ১৮৮৪ / পৃ. ৪৫৭-৬৬
১৫. শেখশিক্ষা / কথা / রবীন্দ্র রচনাবলী, ৪র্থ খণ্ড / ১২৫তম রবীন্দ্র জন্মজয়ন্তী স্মরণ সং / বিশ্বভারতী ভাদ্র ১৩৯৪ / পৃ. ৬৫
১৬. প্রভাতকুমার মুখোপাধ্যায় / রবীন্দ্রজীবনী, ২য় খণ্ড / বিশ্বভারতী ১৯৬১ সং / পৃ. ১২৭
১৭. অরবিন্দ পোন্দার / রবীন্দ্রনাথ : রাজনৈতিক ব্যক্তিত্ব / উচ্চারণ ১৯৮২ / পৃ. ১১৩-১৪

১৮. শিবাজী উৎসব / সন্ধ্যাতা / ১৯৬৬ বিশ্বভারতী সং / পৃ. ৪৭৯
১৯. আব্দুল মওদুদ / পূর্বোক্ত / পৃ. ১৯০
২০. প্রভাতকুমার মুখোপাধ্যায় / পূর্বোক্ত / পৃ. ১২৭ পান্টটীকা দৃঃ
২১. গোলাম মুরশিদ / রবীন্দ্র বিশেষ পূর্ববঙ্গ / বাংলা একাডেমি ঢাকা, ১৯৮৯ দৃঃ
২২. উদ্ভৃতি। মূল গ্রন্থ : রবীন্দ্রবননী ওয় খণ্ড, প্রশান্ত পাল / আনন্দ ১০৯৯, পৃ. ২৮১
২৩. প্রশান্ত পাল / পূর্বোক্ত / পৃ. ২২৬
২৪. ছিন্নপত্র / বিশ্বভারতী ১৯৬০ / পৃ. ২২৫
২৫. দুরাশা / গল্পগদ্যে ২য় খণ্ড / পৃ. ৩৫১
২৬. আজহারউদ্দীন খান / বাংলা সাহিত্যে মুহম্মদ শহীদুল্লাহ / জিজ্ঞাসা ১৯৬৮ ; পৃ. ২১
২৭. মুসলমানীর গল্প / গল্পগদ্যে ৪র্থ খণ্ড / বিশ্বভারতী ১০৮৮ / পৃ. ৮৮৪
২৮. সমস্যা / কালাঙ্কর / রবীন্দ্র রচনাবলী ১২শ খণ্ড / জ. শ. বা সং / প. ব. স. ১০৬৮ /
পৃ. ০১৯-২০।

PHILOSOPHY

The Idea of Cause : A Philosophical Analysis

—Hiranmoy Banerjee

Sāṅkara's Critique of Vaiśeṣika View on World-Origination

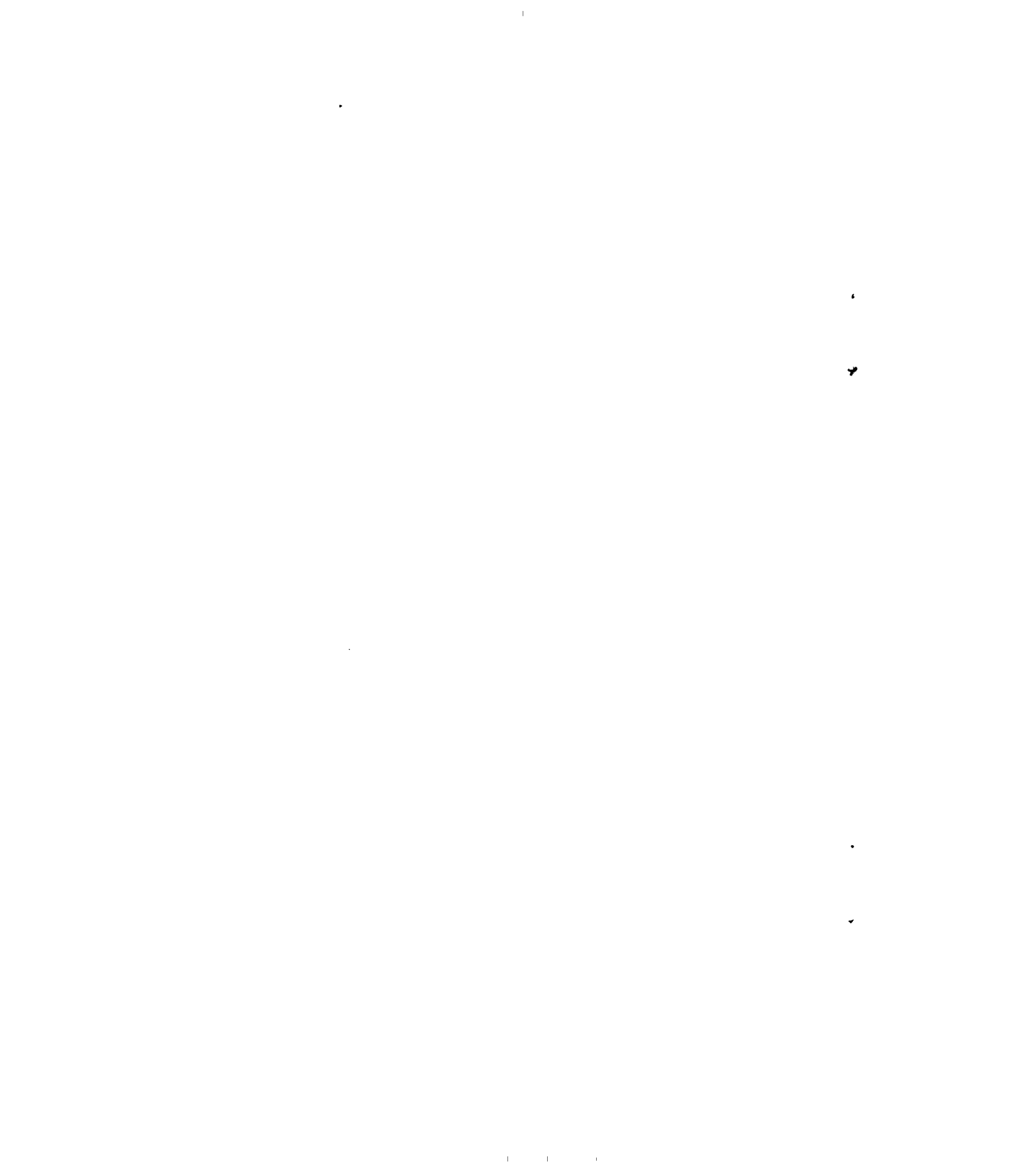
—Raghunath Ghosh

Reality, World and Man in Vivekananda's Neo-Vedāntism

—Sabujkali Sen (Mittra)

Implications of the Life-World

—Prabhat Misra



The Idea of Cause : A Philosophical Analysis

Hiranmoy Banerjee

The purpose of this paper is to give a general audience consisting of experts from various fields a rough and ready, but as far practicable an accurate idea or rather feel, an authoritative flavour of the kinds of problems and issues which philosophers deal with when they try to get a grip of the idea of cause current in both ordinary thought and science, physical, biological, psychological and social. An idea of the different kinds of analyses suggested is provided but no definitive solutions of the problems raised are offered. Philosophers are compelled to do things in which scientists may not find in any immediate interest, because philosophical concerns are not identical with scientific concerns, though there is a large area of overlap between the two which I shall also try to bring out. An earnest attempt will be made to avoid the technical vocabulary of philosophy to facilitate easy understanding of non-philosophers even at the risk of oversimplification and distortion of views discussed. Once the fundamentals are grasped, a sophisticated audience would know how technical formulations may be suggested and the tightening of the arguments effected. The treatment of the topic and approach are of necessity illustrative, rather than exhaustive. Many vitally important theories would remain unmentioned, many salient issues ignored.

One of the philosophical issues concerning cause is : what are the entities among which causal relations are said to hold ? Many philosophers take events as causes and also as effects. But conditions, states, phenomena, processes and even facts and objects have often been to be involved in causal relations. It is an interesting subject of philosophical analysis to find out whether they are indeed entities of sorts other than events and if so whether different kinds of causal relations are involved. Let us for the present confine our attention to events. The first problem to be dealt with concerns the question whether all events have causes. With the rise of modern physical sciences in the seventeenth century European philosophers have tended to take for granted that all

events have causes. The first issue is whether any kind of proof can be offered for the proposition : whatever begins to exist must have a cause of existence. In the seventeenth century three eminent philosophers Hobbes, Clarke and Locke tried to offer arguments in favour this proposition. In the eighteenth. Hume showed the hollowness of these arguments, Kant, towards the end of this century, tried a different track and tried to re-establish this principle. Hobbes argued that if something can begin to exist without a cause then why should it begin its existence at this *point of space and at this instant of time* since all points of time and space are supposedly equal. The object can never begin to be and must remain in eternal suspense unless there is something to determine where and when it shall begin to exist. David Hume criticises Hobbes validly by saying that the latter cannot return two answers to the same type of questions. We must distinguish two questions : first, whether the object shall exist or not and second, when and where it shall begin to exist. If we are prepared to grant that there is no absurdity in supposing that an object's existence has no cause, there should be no difficulty in supposing the time and place be fixed without a cause.

Clarke argued that if a thing has no cause then it must produce itself. Since the cause precedes the effect, it must precede itself which is an absurdity. Locke argued that if an event has no cause, then we have to say that nothing produces it, but nothing can produce nothing. Hume Knocks these arguments down permanently by saying that when we exclude all causes we really do exclude them and neither suppose nothing nor the object itself to be the cause of its existence. What is shown from the above discussion is that the so-called Law of Universal Causation is so fundamental that we cannot prove it unless we presuppose it in a covert form. When in the twentieth century it has come to be questioned, our entire way of looking at things has been questioned and sought to be replaced by another way of interpreting things and one paradigm has been sought to be replaced by another.

Kant was a great admirer of Newtonian Physics and was eager to provide a philosophical foundation to it. According to him Newtonian Physics required the Law of Universal Causation and he sought to give what is called a transcendental proof of this principle. The argument turns on the general conditions of knowledge and tries to show that we cannot know real succession to events unless we establish causal connections between them. What appears successively to our consciousness may not be really successive. When I perceive a big house the

parts must appear successively. But in reality they co-exist. How can we distinguish between what is really successive from what is merely, apparently successive? There is a criterion used by us. If a series of perceptions is reversible then what is perceived does not really succeed each other. We can perceive the high-rise building from the top-down or from the bottom-up. In the case of real succession the order of perception is not reversible. When I see a ship move downstream it is impossible that the ship should be first perceived lower down in the stream and afterwards higher up. Kant argues, therefore, that an experience of an event, of anything as happening is itself possible only when we refer this event necessarily to something else which precedes it and upon which it follows in conformity with a rule, that is, of necessity. Kant concludes, therefore, in the Second Analogy of Experience, that all alterations take place in conformity with the law of the connection of cause and effect.

Kant's proof for the Law of Universal Causation is, however, invalid. As P. F. Strawson has pointed out, Kant has changed the sense of the word "necessary" in the course of the argument. Given that what is observed is a change from A to B it is conceptually necessary that the observer's perceptions should have the order, first perception of A and then perception of B and not the reverse order. But in the conclusion Kant is inviting the notion of causal necessity which is different from the earlier conceptual necessity. The conceptual necessity based on the fact of a change is equated with the causal necessity of that very change.

The vast majority of philosophers have tended to feel that no a priori proof of the principle that every event has a cause is forthcoming. This does not show that this principle can be abandoned at our sweet will.

Why do we make causal judgment? Some common contexts of causal talk are as follows: (1) We make causal judgments to explain the occurrence of particular events. (2) Causal knowledge has predictive usefulness. (3) Knowledge of causal connection gives us power to control events. (4) Causal attribution involving agents are important in the attribution of moral responsibility, legal liability etc. (5) Causal concepts are needed in special technical sense in physical, biological, psychological and social theory-construction. Can a satisfactory philosophical analysis of the idea of cause be given which can account for all these aspects of causal judgments?

II

Let us now consider some popular analyses of the nature of causation. Causation has been sought to be understood in terms of necessary and sufficient condition of events or both.

C is a cause of E if and only if C and E are actual and C is *ceteris paribus*. (other thing being equal) sufficient for E, or alternatively both sufficient and necessary for E.

To put the same thought in another way. C is a cause of E if and only if C and E are actual and there is an actual condition D such that C necessitates E on condition D. C necessitates E on condition D if and only if there is a law L such that C, D and L logically implies E, but neither C and D by itself nor D and L by itself logically implies E.

In recent times further clarification of the idea of cause has been sought to be made with help of the notion of INUS condition.

J. L. Mackie Says :

If C is a cause of E (on a certain occasion) then C is an INUS condition of E, i.e., C is an insufficient, but necessary part of a condition which is itself unnecessary, but exclusively sufficient for E (on that occasion).

When experts declare a short-circuit to be the cause of a fire they are saying in effect that the short-circuit is an insufficient, but necessary part of the condition that caused fire. In other words a short-circuit occurred, other conditions which conjoined with it formed a sufficient condition were also present and that no other sufficient condition of the house's catching fire was present on this occasion.

In the opinion of many philosophers all analyses of this type founder on the twin difficulties of under-determination and over-determination. The length of the legs of a table that support its top is *ceteris paribus* sufficient for the position of the top relative to the floor. If we put aside temporal considerations we can say that the position of the *table-top* relative to the floor is caused by the length of the legs that support the top. Unfortunately the position of the top is *ceteris paribus* sufficient part for the length of the legs. But we are not inclined to say that the position of the top relative to the floor is that cause of the length of the legs.

The difficulty of over-determination is this. If two bullets pierce a man's heart simultaneously, it is reasonable to suppose that each is an

essential part of a distinct sufficient condition of the death, but neither bullet is *ceteris paribus* necessary for the death, since in each case the other bullet is sufficient. Hence neither bullet is a cause of the death (neither is a causal factor of the death, neither contributes causally to the death)

Difficulties like these have led some philosophers to abandon analysis of causation that involves conditionality and lawfulness, while others have attempted to supplement condition with some other notions like agency.

III

G. E. M. Anscombe seems to hold that concept of causation cannot be analysed: it is what it is and nothing else. As she puts it, it is mere hap. The word "cause" itself is highly general. It is a generalization of causal concepts: scrape, push, wet, carry, eat, burn, hurt, knock over etc.

Anscombe tries to separate the idea of causation from the idea of determination. A cause C is a necessitating cause of an effect E when if C occurs it is certain to cause E unless something prevents it. A non-necessitating cause is therefore that which can fail of its effect without the intervention of anything to frustrate it. Anscombe quotes Feynman to give an example of a non-necessitating cause: a bond is connected with a Geiger Counter so that it will go off if the Geiger Counter registers a certain reading; whether it will or not is not determined for it so placed near some radioactive material that it may or may not register the reading.

Anscombe points out that causation and determination are conceptually different—a thing hasn't been caused unless it has happened; but it may be determined before it happens. When we call a result determined we are implicitly relating to it an antecedent range of possibilities and saying that all but one of these is disallowed what disallow them is not the result itself but something antecedent to the result. The antecedent may be logical, temporal or the order of knowledge. In a chess-game the antecedent possibilities are the powers of the pieces. In a state of the game, all but one of the various moves may be excluded by the rules. Here logical antecedent uniquely determine the next move. However, a chess-game is seldom determined though nobody breaks the rules. In the same way though Newton's mechanics is a deterministic system

believing in Newton's laws does not commit us to determinism. Nothing violates the laws of mechanics, but animals seek about the world in all parts of paths and no path is dictated for them by those laws as it is for planets once the initial conditions are given.

IV

Some philosophers like Donald Davidson have wondered about the logical form of causal statements. Jack fell down and broke his crown. We can analyse it as :

There exist events e and e' such that e is a falling down of Jack and e' is a breaking of a crown by Jack and e caused e' .

But Davidson draws a sharp distinction between causes and the features we hit on for describing them. The cause of a match's lighting is that it was struck—yes, but that was only a part of the cause ; it had to be dry match, there had to be oxygen in the atmosphere etc. But the striking of this match cannot be only a part of the cause, for this match was in fact dry, in adequate oxygen etc. So what is partial in the sentence. "The cause of this match's lighting was that this was struck" is the description of the cause ; as we add to the description of the cause we may approach the point where we can deduce from the description and the laws that an effect of the kind described would follow.

Here we may mention an interesting controversy concerning singular causal statements. According to some a singular causal statement 'a caused b' entails that there is law to the effect that "all the objects similar to a are followed by objects similar to b" Others maintain that we can hardly make generalizations like "if you strike a well-made hard enough, then other conditions being favourable it will light" exceptionless and we can know singular causal statements to be true without knowing any relevant covering law. But if we make the distinction between events and their different possible descriptions, then we can reconcile those two views. Since a causal relation holds, there must be a law, But there must not be a law mentioning the two descriptions used in the singular causal statement.

V

Davidson holds that the relation of causality between events can be expressed by extensional language. But he concedes that for the analysis

of causal laws the resources of non-extensional subjective and counterfactual conditional must be brought in.

The empirically-minded philosophers tend to think that constant conjunction is alone known through sense—experience and the causal relation is a kind of regular and constant conjunction.

There are others, however, who hold that a stronger relation is involved. If an event C is a cause of the event E, then the occurrence of C depends in some sense on the occurrence of E. Davidson tries to explain causal dependency in terms of counterfactual dependency.

1. An event e causally depends on an event c just in case if C had not occurred, e would not have occurred,
2. An event C is a cause of an event e just in case there is a chain of events from c to e, each event in this chain being causally dependent on its predecessor.

It has been pointed out however that counterfactual dependency is too broad to pin down causal dependency ; in cases of overdetermination mentioned above it is too narrow. One event may determine another event without causally determining it. As Jaegwon Kim shows, when my sister gave birth to her first child I became an uncle. My becoming an uncle was determined by in sense being dependent on the birth of the child, but was not a causal effect of it. The two events, however, sustain the required counterfactual :

If my sister had not given birth at t, I would not have become an uncle at t.

Counterfactuals require the talk of possible worlds which are different from, but which are similar to actual worlds. But the notion of a possible world having different degrees of similarity to our actual World seems to be necessary for a clarification of the notion of causal necessity and nobody has been able to elucidate the exact relation of regularity and necessity. Maybe causal necessity has to be postulated as a primitive idea.

Sāṃkara's Critique of Vaiśeṣika View on World-Origination

Raghunath Ghosh

In the *Tarkapāda* chapter of the *Bhāṣya* Śāṅkara has criticised the views of different philosophers like Vaiśeṣikas, Sāṃkhya, etc. regarding the cause of the origin of the world and has substantiated the Advaita position. According to the Advaitins, the universe is originated from a conscious being called Brahman. In other words, the Advaitins believe in the theory of *Brahmakāraṇatā* (*Brahmakāraṇatāvāda*), which regards Brahman as the cause of the universe.

The Vaiśeṣikas believe that the whole universe is originated through the combination of atoms, but not from any conscious principle. Śāṅkara has come forward to criticise the view of the Vaiśeṣikas and shown that the combination of atoms is not at all possible.

This universe is described as having its own parts [*Savayava*] and hence it has got its beginning as well as end. Atom is described as the cause of this universe, and also the effect. Due to the existence of the desire of God as aided by unseen factors [i.e., merits and demerits] of an individual, the initial action begins between atoms resulting combination in them from which a dyadic compound is produced. The colour, etc. in a dyadic compound. In this way, a material object comes into being.¹

At the time of dissolution the conjunction between atoms needs initial action just as initial action exists behind the conjunction of threads. This initial action again needs some cause, without which it is not possible. If the effort is regarded as the cause of the initial action in the atom, it is not possible at all owing to the absence of the cause [i.e. effort] at the time of dissolution. At that time effort which is described as an attribute of *ātman* cannot exist in *ātman* owing to the non-existence of body. It cannot be argued that effort can exist in *ātman* which has got connection with atoms due to its all-pervasiveness. For effort is produced in *ātman* connected with the mind existing in body.

So, effort cannot be considered as the cause of the initial action among the atoms, as body does not exist at the time of dissolution.²

It may be argued that the unseen principle [i.e., merits and demerits] is the cause of the initial action in atoms. Now, there may arise a question whether this unseen principle exists in *atman* or in atom through relation of inherence. The initial action cannot be explained by the unseen factor existing in either of the two mentioned above, as it is unconscious in nature. It is a fact that an unconscious object cannot guide others if it is not guided by a conscious being.³

If it is argued that the unseen principle exists in an individual soul and this unseen principle along with the help of this individual soul can create initial action, it can be said that the individual soul in which consciousness has not been produced remain unconscious at the time of dissolution and hence it cannot help unseen factors in respect of creating the initial action. Moreover, it [i.e. unseen factor] cannot be regarded as the cause of the same, as it is inherent in the individual soul⁴

It may be argued again that as contact of atoms exists in an individual soul, the substratum of the unseen factor, the unseen factor is related to atoms in the indirect relation and hence it can create the initial action in atoms.

The above mentioned view does not appear to be logically sound. For all-pervasive individual soul has got connection with atoms and this connection is mentioned as eternal. Due to its eternity, the initial action in atoms will be eternal, which leads to the absurdity of dissolution.⁵

So, the seen as well as unseen factors cannot create initial action, which indicates the impossibility of the conjunction of atoms and hence creation from this is not possible.

If it is accepted somehow that there is the conjunction of atoms, the question may be raised as to whether atom combines with another entirely or partly. If it is said that an atom combines with another entirely, it will be practically lost in another and the enhanced size will not be cognised. Moreover, it has been found in the empirical world that an object having parts can be combined with another object that has got some parts of its own. As atom is described as partless, it can never be combined with another. If it is said that an atom may be combined with another part, it will turn into an object having some parts, as the combination of a part is possible between objects that have got their parts. The parts of an atom can not be imagined, as imaginary objects are unreal. So the conjunction between atoms is not possible resulting

the non-production of a dyadic compound. In this way total creation can never come into being.⁶

The most minute part (of a substance having some parts) which is not further divisible is, according to the Vaiśeṣikas, atom. This atom having colour, taste, etc. is of four types. The atom having colour, etc. becomes the creator of four elements bearing colour etc. and also material objects according to them.

This view of the Vaiśeṣikas is baseless on account of the fact that, as soon as one accepts atom as having colour, etc. the eternity and minuteness of atom is denied. If it is accepted that atom has colour, etc., it would have to be treated as gross and non-eternal having some cause. It is found in the empirical World that an object having colour is more gross and non-eternal than its cause, just as cloth is more gross and non-eternal than its cause, i.e. thread. In the like manner, if the Vaiśeṣika-view, namely that atoms have colour is taken for granted, it has to be assumed that atoms have their cause which is more minute than atoms. From this the greatness and non-eternity of atom has to be accepted which is actually a kind of *aniṣṭāpatti* i.e. imposition of the undesired as pointed out by the Advaitin.⁷

With the help of these arguments Śaṅkara has proved that world cannot be originated through atomic conjunction. Hence Brahman which is the conscious principle is the cause of the world. In fact, this characteristic of Brahman is described in Advaita Vedanta as *Tataṣṭhalakṣaṇa*.

The Advaitins admit that the characteristic feature of Brahman which is accepted as ultimate Reality in Advaita Vedanta is of two types: essential characteristic (*svarūpalakṣaṇa*) and secondary characteristic (*tataṣṭhalakṣaṇa*) when it is said that Brahman is Truth, Knowledge and Infinitude as evidenced from the S'ruti—'Satyam jñānam anantaṁ Brahma', it is called essential characteristic feature. The definition, which though it does not exist as long as the definatum exists can differentiate it from others (*yavallakṣyakālanavasthitatve sati yadvyavartakṛtṁ*), is called *Tataṣṭhalakṣaṇa*.⁸ The secondary characteristic of Brahman lies in its being the cause of the origination, etc. of the universe (*jagajjanmadikaraṇatva*). Here, the term 'cause' actually denotes the agentness of the universe (*jagatkartva*).⁹ Brahman which is Truth, etc. cannot be the creator of the Universe. When Brahman becomes associated with *Māyā* or *Avidyā* can create or can be an agent. Hence Brahman associated with *Māyā* is called *Saguṇa*

Brahman or *Īśvara* which has got capability of creating this world, which is the *Siddhantapakṣa* of the Advaitins.

Even if it is accepted that the whole world is originated through atomic conjunction, there is some logic behind accepting the Advaitin's standpoint. Because the Advaitin's must agree that the atomic conjunction is one of the factors of creation. This atomic conjunction, the Advaitins may say, cannot be the sole cause of this world unless the existence of some conscious principle behind it is accepted. If this conscious principle is accepted as Brahman which is of *Śuddha mukta*, *Nirguṇa* or *nirupādhika*, it cannot also help in conjoining atoms for not having capacity of being an agent. Hence, Brahman associated with *Māya* or *avīdya* can be the creator of this world through the conjunction of atoms. The Advaitins may admit that the conjunction of atom is one of the various processes of creation, but this can never be the direct cause of creation. The direct cause of this world is only Brahman which is, of course, *māyādhīna* as said earlier. This characteristic feature of Brahman is formulated by Budarāyana himself in his Sutra—'*Janmādyasya Yatah*'.¹⁰

The refutation of the views of the *Vaiśeṣika*, *Śāṅkhya*, etc. by Śāṅkara has opened a vista in the methodology of theory-building in Indian tradition. The theory which is to be substantiated is called *Brahmakaraṇatavada*. The term '*Vada*' attached to *Brahmakaraṇata* clearly shows that it is an open debate where the opponent's view is respectfully and critically adjudged and logically refuted. Through mutual discussion Śāṅkara has arrived at the conclusion that Brahman alone can be the cause of the world, but not *Pradhāna*, etc.

Lastly, Bādarāyana and Śāṅkara have forwarded an argument against the theory of atomism in the *sūtra* '*aparigrahacatyantamanapekṣa*'¹¹ which, I think, does not stand in the eyes of logic. According to this *Sūtra*, the *paramānukaraṇatavada* cannot be accepted or rather it should be ignored as this theory has not been admitted by the Vedic seers as the wise men. Generally a theory is propagated by some scholar of some school basing it on some independent logic; No thesis is to be taken as established if it is not substantiated through logic (*Ekakini Pratijñā hi pratijñatam sadhayet*). According to this principle, the theory propounded by the Vaiśeṣika philosophers is grounded on some logic, which may not be accepted by some seers or wise men. From this it does not follow that their view is ignorable. Moreover, the last statement is contradictory to what the Advaitins have done earlier. The Advaitins

have carefully adjudged the Vaiśeṣika view and critically refuted it. From this it is proved that the Advaitins have taken care of their view seriously. The whole process of refutation does not confirm the later statement mentioned above and hence, they are a little bit contradictory in their position. This statement of the Advaitins, however, may be supportable if it is taken as an additional independent argument in favour of *not* accepting the Vaiśeṣika-position. First, they have developed some independent arguments against the Vaiśeṣikas and afterwards have added another argument which ultimately states that the Advaitins do not accept any theory as a valid one if it is not accepted by the Vedic seers. Though this stand seems to be dogmatic, there is some point in propagating this for the Advaitins as they believe *Śruti* or *āgama* as an independent *Pramāṇa* or as they are mostly Śruti-dependent.

References :

1. *Samkar-bhāṣya* on Sūtra 2. 2. 11.
2. *Ibid.* on Sūtra 2. 2. 12.
3. *Ibid.*
4. *Ibid.*
5. *Nityameva ca bhavat*—2. 2. 14
Śamkar-bhāṣya on the same.
6. *Samkarabhāṣya* on *sūtra*—2. 2. 12.
7. 'Rūpādimattvācca viparyayadarśanāt'—2. 2. 15.
Samkarbhāṣya on the same.
8. "Tatra lakṣaṇaṁ dvividhaṁ—svarūpalakṣaṇaṁ tatasthalakṣaṇaṁ ceti
Tatra svarūpameva lakṣaṇaṁ svarūpalakṣaṇaṁ. Yathā satyādikaṁ
brahmasvarūpalakṣaṇaṁ. Yāvallakṣyakālamanaṁ avasthitatve sati
yadvyāvartakaṁ."
Vedāntaparibhāṣā (Viśayapariśeḍha)
9. "Prakṛte ca jagajjanmādikāraṇatvaṁ. Atra jagatpadenda kāryajātaṁ
vivakṣitaṁ. Kāraṇatvañca Kartṛtvaṁ."
Ibid.
10. *Catuṣṭrī*, 2nd sūtra.
11. *Brahmasūtra*—2. 2. 17.
Śamkarabhāṣya on the same.

Reality, World and Man in Vivekananda's Neo-Vedāntism

Sabujkali Sen (Mitra)

It is not wrong to say that the present age is an age of humanism. Philosophical interest has shifted rightly or wrongly, from God, matter and science to man. Swami Vivekananda, formally a monk in yellow robes, a religious preacher, founder and organiser of a philosophico religious movement known as Neo-Vedantism, was also the pioneer of humanist movement in India. My paper is a humble presentation of Swami Vivekananda's concept of man—a concept very close to Śaṅkara's Advaita Vedānta, yet different from it.

There are three basic inseparable quests of mankind : (1) the nature of ultimate reality and its relation to the visible universe and to man (theology) ; (2) the nature of the universe, the origin and destiny of the world (cosmology), and (3) the nature and destiny of man (anthropology). In my paper I shall try to touch these three aspects and try to describe what I have understood from Vivekananda's writings. Vivekananda believed that human life is not only a reality, it is the reality directly accessible to us, and it is fit and proper that our best effort should go into the task of understanding it.

Vivekananda has always claimed to be an advocate of Advaita Vedānta and never an original thinker, but in the course of his interpretation of the Vedānta some new elements are introduced by him which are enough for one to lay claim to originality. Vivekananda upholds, in contradistinction to the adherents of the Mayāvāda of Śaṅkara, the reality of this Universe. This, however, is only implicitly contained in his thoughts and not articulately presented in the form of a well-formulated theory.

So far as his conception of Reality is concerned, Vivekananda is in perfect agreement with Śaṅkara. According to Śaṅkara the entire universe is enveloped by Brahman (*Sarvāṅ khalvidāṅ Brahman*). The Brahman or God is said to be one (*ekam*), undivided (*advitīyam*), pure knowledge, pure existence and bliss (*Sacchidānanda*). If this be so, how does this

phenomenal world which is characterised by chequered multiplicity and innumerable sufferings come into existence? According to Śaṅkara, the root cause of phenomenal world and of human suffering can be attributed to our sense of distinction (bheda) between the self and not self, which in its turn, is produced by ignorance or want of right knowledge. This ignorance in its cosmic aspect is termed as prakṛti or maya but it is usually called ajñāna or avidyā in the cases of ordinary empirical illusion. Under the influence of avidyā, the human self (ātman), which in its final depths identical with the unlimited and infinite Brahman, appears as limited and finite Jīva. Ajñāna, is the ignorance that makes the Brahman, who is Absolute undivided and one appear as relative, divided and many. Prakṛti which is said to be constituted of three Guṇas—*sattva*, *rajas* and *tamas*—is used to denote *mayā*, as the material out of which the universe has been created.

Maya is supposed to function in a double way—negative and positive. Its negative function consists in concealing (āvaraṇa) the real nature of an object from our view while its positive function is to distort (Vikṣepa) the object and make it appear what it is really not. *Maya* in its cosmic act of creation covers up the real nature of Brahman as one, undivided and bliss and makes it appear as the phenomenal World characterised by the distinction between I (asmad) and “thou” (yuṣmad) or the self and the not self. In the language of Śaṅkara the whole world of distinction is superimposed ‘adhyasta’ on the distinctionless unity of Brahman.

According to Vivekananda, “There is neither nature, nor God, nor the universe, only that one Infinite existence, out of which through name and form all these are manufactured”, (Vivekananda *Jnana Yoga*, P 301), It is only due to Maya—the triad of space time and causation—that this world of things and beings appear to exist. It appears that Vivekananda believed in pantheism, in an indeterminate, impersonal Being as the only reality, and took this world of ours merely for a dream, an illusion. “This world is but a dream and this dream will vanish when one wakes up and becomes free from Maya”—(*Jñāna Yoga* P 254). In this aspect there is hardly any difference between the approaches of Śaṅkara and Vivekananda. As a matter of fact, there are two aspects of Vivekananda’s philosophy—one is negative and the other is positive. To describe Brahman in negative terms is the traditional approach. There is a distinct positive approach of his philosophy in which he emphatically asserts the reality of the world and the individuals. Negation, according to him, is simply the first step in the awakening of thought. Thereafter positive aspect

naturally follows : 'We have to go through the negation ; and then positive side will begin. We have to give up ignorance and all that is false ; and then truth will begin to reveal itself to us. When we have grasped the truth, things which we gave up first will take new shape and form, will appear to us in a new light, and become deified.'" (*Jñāna Yoga* P 173).

We have already said that Vivekananda did not formulate a new philosophical system. It is Śaṅkara's Advaita Vedānta that he accepted and expounded in modern terms and found its widest application in modern life. So far as the basic ideas are concerned he does not differ from Śaṅkara, but there are some differences in his way of presentation and the emphasis laid by him on its practical aspects. He lived about twelve centuries after Śaṅkara under altogether different circumstances. He has aligned the spiritual outlook of Śaṅkara with the modern outlook upon life and the world. He has explained from the Advaita position how to spiritualise the modern view and way of life.

Thus contrary to the Māyāvāda of Śaṅkara, Vivekananda believes that the world is also real, and not false or illusory. For Vivekananda even Vedānta does not denounce the world ; rather it preaches deification of the world. Swamiji quotes the opening verse of *Ishopaniṣad*, which says :

Is'āvāsyamidam sarvam, Yatkincit Jagatyaṁ Jagat

Tena tyaktenabhunjitha mā gridha kasyaidham.

But Vivekananda's assertion regarding the relation of the world is not very solid, as he sometimes wavers between the two conceptions—Brahman as apparently manifested in the universe (*māyāvāda*) and as really expressed in it. The following statement will support this—"The Absolute has become the universe by coming through space, time and causation...Time, space and causation are like the glass through which the Absolute is seen ; and when it is seen on lower side, it appears as the universe"—(Complete works of Swami Vivekananda V. 2. P 130).

Similar expressions are found elsewhere also. In one place he contends that the Absolute has become the universe but in another place he says that it appears as the universe, This is due perhaps to two fold loyalties—a strong intellectual attachment with Advaita Vedānta, so far as the negative description of the reality is concerned, and at the same time a deep sense of reverence for the Great Master Sri Ramkrishna, in holding the positive view that this universe is a real manifestation of Brahman.

Being a lover of humanity Vivekananda was naturally drawn more to the compassionate Buddha as person than even to Śaṅkara. He united the spiritual idealism of Śaṅkara with the dynamic spirit of the Buddha. In him we find a delightful combination of Śaṅkara's intellect and the Buddha's heart. He impregnated Hinduism with the ideal of complete self dedication to the service of humanity.

The Individual :—Just as Buddha's heart cried for the alleviation of the sufferings of one and all without any distinction of caste and creed, race or nationality, age or sex, so did Swami Vivekananda's. The national ideals of India are renunciation and service, a seeker of liberation is urged to render service to humanity as a mode of worship "*Ātmāno mokṣārtham Jagaddhitāya Ca*". Swami Vivekananda has emphasized a two fold application of Vedānta in practical life—(1) arousing man's faith in himself and (2) serving man in the spirit of serving God.

Vivekananda's attitude towards the individual may well be characterised as one of the greatest humanistic approaches ever made by philosophers. Every individual according to Vivekananda is analysable into three constituents, the body, the internal organ, or the mind and what is called the Ātman or the self. But we are faced with the following questions :

- (a) Are the body, mind and soul three different existences ?
- (b) Are they different constituents of the one whole ?
- (c) Are they three different states of existence of the same unit ?

It is simply natural for a Vedāntin like Vivekananda to answer the first and even the second question in the negative. He has elaborately discussed the position of the Dvaitins, the dualists and also of the Viśiṣṭādvaitins. (Ibid pp 268-274) and brought out their short-comings. The dualists' belief in the two fold realities is not without difficulties, as it lands into the age-old controversy of the relation between mind and matter, consciousness and body. Hence the Swami says "So long as any one thinks that there are two ultimate realities, he is mistaken, when he has come to know that there is but one, he is right"—(Ibid p 276). Thus he comes to conclude that the body, mind and the soul are the three different states of existence of the same unit.

But here again we find his ideas wavering between the two opposite views. Very often he says that the body and mind are only appearances : "This Self or Soul or Substance is, in the language of nondualism, the Brahman appearing to be manifold by the interposition of name and form.

Look at the waves in the sea. Not one wave is really different from the sea. but what wakes the wave apparently different? Name and form, the form of the wave and the name which we give to it, wave?— (Ibid p-274). This is a clear exposition of the pantheistic doctrine in which the existence of individuals is lost in the Absolute of Brahman.

However, there are other passages which indicate that he intended to preach a doctrine of realistic Advaita or Neo-vedāntism in which it is held that the world and its individuals are as much real as Brahman. The body, mind, etc. are simply different states of existence of the same Brahman. "Everything exists through eternity, and will exist through eternity. Only the movement is in succeeding wave and follows, going back to five forms, and coming out into gross manifestations. This involution and evolution is going on through the whole of nature. The whole series of evolution beginning with the lowest manifestation of life and reaching upto the highest, the most perfect man, must have been the involution of something else. The question is the involution of what? What was involved in God"? (Ibid p-208). It is clear from his writings that when he keeps himself aloof from the Advaita Vedānta, his spirit is that of a realistic Advaitin. But the reverence for the Advaita seems to compel him occasionally to use the Advaitic phrases, and expressions cause obscurity in his usual position. So if we want to know his own notions and views on individual, it is better to concentrate on his statements uttered in moments free from the psychological burden of the Advaita Vedānta. The following passage of him is a clear departure from the illusionistic philosophy of the Advaita Vedānta.

"It, therefore, follows absolutely that the perfect man, the free-man, the God-man who has gone beyond the laws of nature, and transcended everything, who has no more to go through this process of evolution, through birth and death, that man called the christ-man by the christians, and the 'Free' the Yogis—the perfect man who is at one end of the chain of evolution was involved in the call of the protoplasm, which is at the other end of the same chain" (Ibid p-209.) "It is the cosmic intelligence which gets involved and manifests, evolves itself, until it becomes the perfect man, the Christ-man, the 'Buddha-man'. Thus it goes back to its own source" (Ibid p-210). Thus every evolute of the universe, be it bare matter or mind or consciousness, is only the manifestation of the 'cosmic intelligence' or Brahman. The emphasis on the 'christ-man' or the 'Buddhaman', however, clearly shows that man is the supreme of

all evolutes. This human body is the greatest body of the universe, and the human being being the greatest being. Man is the higher than all angles. Vivekananda cites from Jewish and Mohammedan scriptures to the effect that God created man after creating the angels and everything else. He asked the angels to come and salute him, and all did so except Iblis ; so God cursed him and he became a Satan. Thus Swamiji says, "Behind this allegory is the great truth that this human birth is the greatest birth we can have" (C. W. V. Vol. I p-142).

So, according to Vivekananda, it is clear that the individual is not an illusory being, but a real one, with every constituent, such as body, mind and soul, being the manifestations of Brahman. But since the matter was preceded by life, life by mind or consciousness, the dominance of the last evolute over the earlier is obvious. But since the story of evolution is not yet finished, Swamiji believes that it is yet to go back to its own source. The body and mind are only temporary phases constituting only the apparent man, but the real man, the reality which underlies every evolute of the cosmic evolution, or the self is yet to be realised. Thus Swamiji makes a distinction between the apparent man and the real man, The apparent man means the super-structure of the body mind organism and the real man is equivalent to the self or the Atman. —"The Real man is one and infinite, the omnipresent spirit. And the apparent man, however great he may be, is only a reflection of the Real Man, who is bound, The real Man, the spirit beyond effect, not bound by time and space, must there be force..., The apparent man, the reflection is limited by time, space and causation, and is therefore bound" (Complete Works of Vivekananda, Vol. II p-78).

"Here I stand and if I shut my eyes and try to conceive my existence 'I' 'I' 'I'—what is the idea before me ? The idea of a body, Am I then, Nothing but a combination of material substances ? The Vedas declare, 'No'. I am a spirit living in a body will die. but I shall not die—Here I am in this body ; it will fall, but I shall go on living"—(C. W. V. Vol. I p-78).

Hence, it is the Soul, the Self, or the Atman, which is the real man. As a matter of fact it is the apparent man who is at present known as man, and thus is due to our ignorance. The status of man is that of the

real man who has for the time being been overshadowed by the apparent man.

Destiny :

The real nature of status of man is the very destiny for which he has no other destiny than the realization of his true nature. According to Vivekananda, the potential divinity of man is the fundamental teaching of religion irrespective of doctrine or dogma, but without inner purity this truth does not shine within a person. To realize this divinity is the goal of human life. According to every theistic religion God is infinite, eternal. Not only he is the omnipotent, omniscient Ruler of the universe, He is the all pervading self of the universe underlying every form of existence. "Be he therefore perfect, even as your Father which is in the heaven is, perfect, says Jesus Christ". (Mathew V. 48). What is imperfect intrinsically can never be perfect. Further, "Behold, the Kingdom of God is within you"—(Luke 17 : 21).

Vivekananda preached that the more you recognise your inmost self and your relationship with the Supreme Being, the more you feel your relationships with your fellow beings, because the same Supreme Being dwells in all as the inmost self. With practical spiritual development love for all grows. You love your neighbour as yourself. As you recognise your unity with the Supreme Self, You find yourself in all.



Implications of the Life-world

Prabhat Misra

1. Edmund Husserl (1889—1938), the German Philosopher and the father of Phenomenological philosophy introduced the concept of Life-World (*Lebenswelt*) in his last work, *The Crisis of European Sciences and Transcendental Philosophy* (published in 1954). Life-World simply means the lived world of human beings. It is not merely the world around us—it is the world which is lived by us. Or in other words, it is the human life as encountered by the different issues and events of the world. In Husserl's exposition it is the world of pre-scientific experience, that is, man's Immediate experience of this world without any presupposition of scientific explanations.

The Life-world is pre-scientific experience, but it is the root out of which all meaning—contents arise. It is the foundation out of which abstract theoretic concepts of developed sciences arise. According to Husserl, this basic foundation has so long been ignored even by the philosophers. Gerd Brand rightly claims that it was Husserl, who for the first time, in the history of philosophy, pin-pointed a problem in something which upto then had not even been seen because of its obviousness ; it is so close to us that we overlook it.¹

The phenomenological movement of Husserl provided a critical analysis of the methods and outlook of modern science. Also Husserl sought to reconstruct the very foundations of scientific knowledge. So he saw the crisis of science. He questioned the very meaning of science in a philosophical sense. What he sought in his last phase of life is the human significance of science.

Why is the knowledge of modern science, particularly from Galileo, to the criticised? Husserl thought that the mere objectivism of the theoretical sciences had so long ignored man's life-world. The abstract objectivity or objective truths of the sciences are the products of abstraction at the level of theoretic reflections. The so-called objective truths do not take into account their original foundation viz, the pre-scientific human experience and knowledge. Kant in his first critique

declared that the scepticism of David Hume awakened him from the dogmatic slumber of pure rationalism. Husserl, in like manner, declared in his notes on 'The Crisis', "Philosophy as a science, as serious rigorous, is a dream from which we have now awakened."² With this quote Rudiger Bubner remarks that according to Husserl, ethical demands must instead be made on the sciences, which have resolutely distanced themselves from the life and interest of human beings.⁸

Introducing the concept of Life-world Husserl presented a radical trace-back to the source of all objective truths and theory-based knowledge, which, according to him is nothing but the immediate experience of concrete life. The world of common pre-scientific experience is to be brought to light for the verification and examination of all conceptual systems of science or philosophy.

The Life-world is the world of common pre-scientific experience of human beings. By 'common experience' is meant man's day-to-day experience. By 'pre-scientific' is meant unbiased by any objective truth. If we think deeply, we may understand that all the so-called objective truths of science and philosophy have really come out of a farther source —man's day-to-day immediate experience. Man's day-to-day immediate experience includes problems and immediate solutions. So the concept Life-world, generally, implies day-to-day practical problems of human life.

2. Now keeping aside all objectivity Husserl's concept of Life-world naturally is based on individual's immediate experience or pure intuition. It seems to be merely a subjective concept. But this concept may necessarily receive its real importance, if philosophical enquiries are made in regard to the practical problems of human life. That is why Ludwig Landgrebe opines, "The complex of problems, which is indicated by the title 'Life-World' is more or less omnipresent in contemporary discussions, if not always, under this title. With regard to its relations to the problem of history and historicity, it is not only the often unnoticed background of all attempts to develop a philosophical anthropology, but also of the methodological discussions with American and German Sociology as well as of the debates with structuralism and with the development of a systematic theory of society. In as much as all of these are concerned with human behaviour and action, the problem must be understood as one of the central problems of practical philosophy and its question concerning the fundamental principle of action."⁴ So it appears that the concept of Life-world is not merely a subjective

concept. It may be immediate subjective awareness of individual beings. But this subjective awareness is not merely pure feeling. The subjective awareness of man in the world lived by him is the awareness of events and issues originated from individual's contact with his society, state in a word, the world in which he lives in different times and different places. This interaction finally gives rise to different doctrines, theories, methods—both in science and philosophy. Thus the concept of life-world may ultimately imply the domain of practical problems of human life. The Life-world is a subjective as well as an objective concept. The very term 'Life-World' signifies that it is both life and world—re'erring both to subject and object.

3. Husserl's concept of Life-world has far-reaching influence on other streams of philosophical movement, particularly on contemporary social philosophical enquiries. Husserl, as the profound propounder of phenomenological movement ultimately sought the essence of natural sciences in the Life world. He is, after all, essentialist. But a close analysis may reveal that the existentialist movement led by Heidegger, Marcel and Sartre, which is sometimes called phenomenological existentialism, is influenced indirectly by the concept of Life-world. It may be said that in the writings of these existentialist thinkers 'existence' i.e. human existence has taken the place of Husserlian 'essence.' The experiencing subject as lived in this world is the 'essence' of all sciences and philosophies, according to Husserl. Whereas, according to the existentialists, the individual subject as it existed in the word-situation with his choice, faith, dread, freedom, responsibility and agony is the 'existence' which proceeds essence.

The concept of Life-world has also influenced hermeneutics, a contemporary method in philosophy. "Hermeneutics is defined as a method for decipherings indirect meaning, a reflective practice of unmasking hidden meaning beneath apparent ones"⁵ The 'essence' sought by Husserl in his Life-world is the hidden meanings which are being searched and researched by the advocates of hermeneutic method. In fact Gadamer and Ricoeur, the two great expounders of this method are basically phenomenologists.

Modern Marxists have discovered new significance of the concept of Life-world in their socio-political writings. Gerd Brand, Haberman, Landgrebe, Euro Paci and others are seriously concerned with Husserl's Life-World. We shall end this outline referring to a glimpse of thought of Euro Paci, the noted Italian Marxist. In his opinion, the western

civilization has been suffering from a deeper crisis. The crisis has arisen from the capitalist mode of production and that of scientific technology. This crisis has given rise to alienation. Man has been reduced to object among objects. To Paci, "Husserl's 'Crisis' and Marx's 'Capital' are the beacons of this renewal." Emphasising on Husserl's concept of Life-World, Paci asserts that phenomenological subjectivity which embraces the concept of Life-world is not merely mythological. It includes both transcendental consciousness and the concrete 'subject of flesh and blood' "Subjectivity", Paci estimates, "is the origin of intentionality in the world, a sense which is, as it were, latently present in the concrete life-world and merely awaits conscious articulation." Paci admits that Husserl paid no attention to the matter of forces of production and relation of production. But economic need are an integrating element of everyday experience in the Life-world. And from this point of view, Husserl's 'intentionality' (by which man consciously comes to contact with the world) and Marx's notion of class-struggle may certainly go hand in hand.⁶

Notes and References :

1. See Ludwig Landgrebe, *Life-world and the Historicity of Human Existences, in Phenomenology and Marxism*, edited by Bernhard Waldenfels, Jan M. Brockman and Ante Parain, translated by J. Claude Evans Jr., Routledge and Kegan Paul, London, 1984, p. 168.
2. Quote taken from Rudiger Bubner, *Modern German Philosophy*, translated by Eric Matthews, Cambridge University Press, 1981, p. 32.
3. *Ibid*, p. 32.
4. Ludwig Landgrebe, *Life-world and the Historicity of Human Existences in Phenomenology and Marxism*, 1984, p. 167.
5. J. O. Urmsion and Jonathan Ree (ed.), *The Concise Encyclopaedia of Western Philosophy and Philosophers*, Unwin Hyman, London, 1989, p. 277.
6. For Euro Paci See Bernhard Waldenfels, Jan M. Brockman and Ante Parain (ed.), *Phenomenology and Marxism*, 1984, Pp. 23-24.

Bibliography :

1. *Phenomenology and Existentialism*, ed. Robert C. Solomon, Harper and Row, 1972.

2. *The Foundation of Phenomenology : Edmund Husserl and the Quest for A Rigorous Science of Philosophy*, Harvard University Press, 1943.
3. *Thevenar, What is Phenomenology ?*, ed. J. M. Edie, translations from French, Quadrangle Books, Chicago, 1962.
4. *Phenomenology and Existentialism*, Debabrata Sinha, Progress, Calcutta, 1974.
5. And the books mentioned in the Notes and References.

ENGLISH

End of Prose

—Rama Kundu

Thomas Hardy as a War-Poet

—Mohit K. Roy

Anticipation of certain themes of Shakespeare's later drama
in his Venus and Adonis and The Rape of Lucrece

—Akram Hossain

Poetry of the Nineties

—Sankar P. Singha



End of Prose

Rama Kundu

The Well-Beloved, Hardy's last novel which was begun earlier, but finished after *Jude*, may be considered as a record of certain self-questionings of a disturbed artist probing his own art. Hardy here makes certain conjectures, in a mystifying manner of course, about the creator-creation relationship, the creator's exhausting wrestling with his mode and the created artefact, which may ultimately end in surrender-conjectures that seem significant in view of Hardy's "end of prose" that synchronized with this book.

In a way *The Well-Beloved*, like Lawrence's *Mr Noon*, appears to be a camouflaged autobiography of an artist. The novelist's conscious induction of the autobiographical element conditions the farcical overtone that disguises the serious undertones, and governs the jerky, hasty, 'not-so-neat' structure of the narration. Also the incongruous unity (much like disunity), the serio-comic-ironic relationship of parts to the whole—features quite unlike Hardy's—recall *Mr Noon*, a much later novel, which is also a novel about novel-writing showing a restless novelist trying to come to terms with his own art. But unlike *Mr Noon*, the product of a "worrying" mind "badly bruised" by the reader's reaction (over *The Rainbow* and *Women in Love*) *The Well-Beloved* does not give so much as an argument with or address to the reader, which abound in other Hardy novels, as also in Lawrence's *Mr. Noon*. This is all the more remarkable in view of the then recent excitement over *Tess* and *Jude*. Here the novelist appears to have already given up the case with the reader, and turned inward instead, to settle some scores with himself. He has at least reached a critical juncture where he is compelled to admit and examine certain doubts, worries and tensions about his own art haunting him since some time.

The long series of Hardy's novels, 'major' and 'minor', reveals a mind simultaneously pulled in two directions: the pursuit of an elusive vision of truth through "unadjusted impressions", however baffling and contrac-

dictory they might appear ; and a hard wrestling with a conventional form, the concreteness of a well-knit realistic novel, in order to make it incorporate and imprison the slipping pattern. The remarkable variety of critical perspectives on Hardy is partly explained by his extremely complex awareness of life which he, paradoxically, sought to express in a simple, organic form. In 1891 the novelist said : "With our widened knowledge of the universe and its forces, and man's position therein, narrative to be artistically convincing, must adjust itself to the new alignment..."¹ Hardy was, indeed, over-burdened with an almost modernist and honest bafflement at the mystery of 'life's little ironies.' Yet, at the same time, he was also committed to a realistic presentation of his vision of the mystery, to a quest for a neat 'Pattern' in the carpet that would project his '*idiosyncratic*' mode of regard.² This double predicament and the resultant compulsion of giving a logical, patterned shape to his unpatterned, "unadjusted impressions"³ of the logicless ways of life naturally proved strenuous and frustrating in the long run. Later novels betray signs of the increasing strain. In *Tess*, in spite of the intensity of the tale, the realistic framework seems to be creaking under the pressure of ideas, that are too many and too conflicting. However, *Tess* manages to enter the symbolist zone through its rich symbolic and mythical suggestions. But *Jude* exposes a tired writer ; in spite of being "geometrically constructed" the plot remains stiff, almost bending beneath the weight of 'impressions ; unnecessarily long and dull dialogue hangs loose, while the flair of Hardy's usual symbolic texture fades. These obvious signs of fatigue along with Hardy's expressed dissatisfaction seem significant. "How Poor and feeble", Hardy says about *Jude*, "what a miserable accomplishment" it is when I compare it with that I meant to make it.

Here are utterances that reflect no concern with the reader's response, but rather an annoyance with the speaker's own artistry. And why this annoyance ? In *Tess* Hardy reached the near breakdown point. In *Jude* the crash came. In *The Well-Beloved* came the aftermath ; it is an act of self-defence of an artist who gives up his art after a long career.

After years of Hardy study, Pinion stressed confidently : "Had Hardy found time to write fiction merely to please himself he might have experimented".⁵ Of course it was a mere guess-work. Nevertheless it is interesting to go through Hardy's comments interspersed in his non-fictional writings and note his supersensitive response to subtle facets

of experience, both as an observer and as an artist,—a response that might have indeed resulted into very different kinds of novels, than the ones he wrote.

How open and receptive Hardy was to 'impressions' and contrary perspectives, is borne out by a note made as early as 1888. "People who to one's self are transient singularities are to themselves the permanent condition.....the rest of mankind being to them the singularity".⁶ Again, "every echo, pit-pat-and rumble that makes up the general noise has behind it a motive, a prepossession, a hope, a fear, a fixed thought forward ; perhaps more—a joy, a sorrow, a love, a revenge".⁷

This anticipates the kind of awareness that later produced the 'psychic novel'. Another note made some months later, seems remarkable in this perspective. He wonders if the true scenes of a congregation could be brought alive into the church what "jostling phantasmagoria" would be there, "crowded like a heap of soap bubbles, infinitely interesting, but each seeming only his own".⁸ Similar hints suggest a novelist who could have been toying with the idea of other more embracing visions, which if projected, would naturally have demanded greater flexibility of form.

After two years Hardy commented on the bearing of realism upon art which clearly underscored his distrust of narrow realism. 'Art consists in so depicting the common events of life as to bring out the features which illustrate the author's idiosyncratic mode of regard'.⁹ Some four months later he made another entry even more striking. "Art is a changing of the actual proportions of and order of things, so as to bring out more forcibly than might otherwise be done that feature in them which appeals most strongly to the idiosyncrasy of the artist.....". He goes on "Art is a disproportioning—(i.e., distorting, throwiag out of proportion) of realities, to show more clearly the features that matter in those realities. Hence realism is not art".¹⁰ Even as early as 1881 he expressed his liking for a "realism" conditioned by "imaginative reason".¹¹ A bold statement indeed in the context of the time. These remarks occur in between *The Woodlanders* and *Tess*. After finishing *Jude* and taking up *The Well-Beloved* Hardy made two journal-entries worth noting in January, 1897. One was about a perspective on time. "Today has length, breadth thickness, colour, smell, voice. As soon as it becomes yesterday it is a thin layer among many layers, without substance, colour, or articulate sound".¹² In the second, interpretation of the final dictum of the *Ion* of Plato, Hardy clearly emphasized "inspiration, not technicality".¹³

Such stray comments, even casually examined, suggest a broadening vision which he must have found increasingly difficult to cope with the 'technicality' of a rigid form.

In 1888, in 'The Profitable Reading of Fiction', Hardy had pointed out : "the art of writing novels" was "in its youth, if not in its infancy, and consequently the reader had to be content with "excellence in parts" which consisted of "a regular *structure* of incidents" a "regular development of character" etc., but, he warned, in such novels the reader might very well miss the "essential thing" since then writer's "speciality" might not be his popular attribute, but it might burk "like a violet in the shade of the more obvious". It is quite possible that this should have some bearing on his novel too. Around the same time, Hardy registered his reaction to Henry James's *Reverberator* in this way : "The great novels of the future will certainly not concern themselves with the minutiae of manners".¹⁴ This derives special meaning if examined in the light of another observation made as early as March, 1886 : "Novel-writing as an art cannot go backward. Having reached the analytic stage it must transcend it by going still further in the same direction. Why not by rendering as visible essences, spectres etc. the abstract thoughts of the analytic school ?"¹⁵

Thus it was rather natural that Hardy should ultimately come to lay less emphasis on the 'form' than the 'essence'. "Form" was just a "species or excellence" but could not rank in quality beside truth of feeling and action. "It is not only evident in his later preference for the "feeble execution of large ideas" to the high execution of a "feeble thinker", but also in an earlier clarification (Jan. 1886) about his own artistic intention : "My art is to intensify the expression of things.....so that the heart and inner meaning is made vividly visible". This remarkably corresponds to the view of novel held by Schopenhauer, with whose writings Hardy was familiar : "a novel will be all the higher and nobler in kind in direct proportion to how much it presents the inner and how little the outer life."

One may cast a glance at Hardy's attitude to painting in this context. In December, 1886 Hardy noted his disappointment with, the Society of British Artists in this way : 'good technique in abundance ; but ideas for subjects, lacking'.¹⁶ He had also, in a long passage, expressed his dislike for a landscape where "Nature is played out as a beauty, but not as a Mystery", because, "I don't want to see the original realities.....I want to see the deeper reality underlying the scenic, the expression

of what are sometimes called abstract imaginings. The 'simply natural is interesting no longer. The exact truth as to material fact ceases to be of importance in art—it is a student's style—the style of a period when the mind is serene and unawakened to the tragical mysteries of life',¹⁷

Two months later. Hardy remarked : "The material is not the real—only the visible, the real being invisible optically".¹⁸

Temperamentally, if not chronologically, Hardy was closer to "expressionism", the "new movement" as Hoffmann defined it. "Which aimed at the expression of ideas and emotions...by the representation of things seen, but with emphasis on their symbolic or emotive character".¹⁹ "Expressionism" marked a new attitude and a new method, dissatisfied with an art that merely rendered the appearance of objects, the artist of the new century wanted to penetrate deeper, to include the imagined, the dreamt, the foreseen. They wanted to "express" themselves. Even though it is considered to have begun in the first years of this century in Germany, already by 1890, the avant-grade was "symbolist". Thus Gauguin told young painters to search their own selves instead of looking too much at their surroundings. He also disapproved the use of models. Herwarth Walden, editor of "*Der Sturm*" (*Yempert*) (1910) emphasized "the expression of a vision" as "the most important thing". More than a decade ago Hardy has busied himself with the problem of exploration-cum-expression. What he implied by his frequent expressions on "impressions" and "seemings" was not visual impression but rather open, unbiased emotional and imaginative responses to life. Again, Hardy's anti-realist impulses could have found cosy accommodation in the expressionist art which made room for 'absurdity' in a deliberate whus Holfmann : "The result of this new attitude was a highly subjective art. Once the laws of realism had been discarded, the artist acquired a new, almost unlimited freedom. If his pictures were no longer to be a mirror, of the actual world, the painter could ignore the rules of perspectives which painters had once struggled to establish in order to make their works look more "real". The *proportions* could be changed. Grotesque and even repulsive elements were admitted to induce a shock in the beholder".²⁰ As in Hardy's time art of shocking was neither current nor allowed he had to pay the price. Yet that he had strong inclinations toward the grotesque is borne out by his own statements (quoted earlier) as also ably explained by Guerard in his book on Hardy.

Even the expressionist landscapes recall Hardy. Their waving forests ; heaving mountains, threatening seas seem to imply an extraordinarily

tempestuous communication with nature, whereas in Hardy's novels nature emerges too often as an agitated and oppressive background correlating the fears and sufferings of man.

A particular feature of the movement seems especially relevant in the context of *The Well-Beloved*. Hoffman notes the element of self-dramatisation in expressionism which had given a number of self-portraits by painters. Jocelyn Pierston, the only artist-hero of Hardy's novels may be considered in this light as a remote self-portrait by the artist. As in the portraiture of the expressionists the extreme likeness did not matter so much as the emotional significance and the mood, here, too, portrayal presses of emotional significance and mood. J. H. Miller, who brings a fresh approach to Hardy in his *Thomas Hardy: Distance and Desire*, notes a process of diminishing distance between the novelist and his protagonists, which according to him, reached its climax in *The Well-Beloved*. after which continuation of novel writing was no more possible.²¹ Miller does not go on, however, to explore the artistic implications of this climactic point. Even before Hardy reached this point, *Jude* told a tale of unfulfilled ambition. But *The well-Beloved* is essentially and basically a novel about the predicament of an artist who is seriously occupied with his creative pursuit and its problems. Pierston comes to project Hardy's own bewilderment, compulsion and exasperation as a novelist consciously committed to writing realistic novels while being strongly drawn towards the various contradictory faces of life, including the anti-real. Pierston is tossed and torn by a continuous tension which was also Hardy's own; it was a tension between "frame" and "dream",²² "Posts and framework" and the "essential vision",²³ "shell" and "idea".²⁴ solid form and inner essence²⁵ "plaster" shape and the "dreams" they translate,²⁶ "pereminal shapes" and "ephemeral fancies".²⁷ Frequent use of words lie "embodied" and "re-embodied" is a significant index of this problem which receives an additional emphasis in the body soul dichotomy (The soul remains young, but is "encumbered with that withering carcase", the body).²⁸ These double dichotomies, viewed in the right perspective, stress the inadequacy of the form to hold the content and underscore the consequent tension. This is precisely the emotional significance and mood in this artistic self-portraiture. But, besides this, a cursory glance brings up obvious likenesses between Pierston and his author. Firstly, Pierston is a man of odd fancy who retains "some mysterious ingredient in nature sucked in from the isle".³⁰ Pierston belongs to a particular

chunk; the island is to him what Wessex had been to Hardy. Pierston's too was a solid specific medium; and further, the island with its stone and lancies provided Pierston the artist with his crude material and also his essential vision, as Wessex did to Hardy. This essence or vision remains "inJescribable"⁸¹ forlrth; like Hardy, Pierston retained an extreme responsiveness to the various "impressions"⁸² of the vision, the blessed curse of their nature. Their commitment to their own respective vision went misunderstood, and therefore, ridiculed or despised. Pierston is all along painfully aware of a gap between his vision, and the different specific forms, living or stone, that the vision has assumed.⁸³ And like Hardy his dissatisfaction grows acute toward the last stage of his artistic career.

After a certain stage, Pierston's vision continues to assume a particular form, that of Avice; yet it flits from one Avice to another, all young, but each different from the other, and all exasperatingly elusive. Hardy too was chained, by his own choice, over a long period (31 to 57) to a particular form, which he gave up after prolonged pursuit and frustration. Here the "absurdity"⁸⁴ of Pierston's folly comes up. Pierston feels elated by the fleshless purity of his sudden love for the dead Dead Avice, yet ironically, he shall stoop to the fleshly incarnation, the solid, concrete form, not once but twice, before giving up both the dream and the living incarnation. In a later situation he realizes that forty years were sufficient for the folly, but dragging it on the sixtieth was absurd. Is it self-criticism by an artist who himself was nearing sixty?

At the end of the story Pierston is sixty, almost Hardy's own age at the time, and like him, bidding farewell to mode of creation that had won for him laurels along with a few thorns. The long pursuit, in each case, was attended by fleeting joys and deep frustrations, as they tried in vain (at least to they tell) to "cage in the perfume", to catch the elusive vision of beauty for Pierston, of life for Hardy, within the solid framework of stone or realistic fiction as the case might be.

Once Pierston stresses the toughness of his work on solid stone and yearns for the abstraction allowed to the poet: "For a poet it is definable. But I should put it in marble".⁸⁵ One recalls similar observation by Hardy along with Mrs. Hardy's comment: "He had mostly aimed at keeping his narrative as near to poetry in their subject as the conditions would allow, and had often regretted. Those conditions would not let him keep nearer still."⁸⁶

Although later novelists and novel critics, like V. Woolf and Percy Lubbock had come to adopt a different view and found fiction to be a most flexible and elastic genre, Hardy would rather have shared Cook's view that a novelist's obligation was to make as well as express his world.³⁷ Hardy accepted that "a story should be an organism" and a novelist was "a conscious technician who cannot escape the exercise of art in telling a tale." But he had his moments of despair and fatigue: "To me, at least the difficulties of perfect presentation in both these kinds (form and substance appear of such magnitude." Again like Hardy, Pierston too is interested in the essence.

Although he has worked to "express" a "fraction" of his vision in "durable shape", at the end "sheer beauty of form" ceases to interest him.³⁸ And even twenty years earlier, he has his flesh of illumination when he knows that the form minus the essence, means nothing. Mrs Pine Avon' after the desertion of the 'dream' "seemed to grow material, a superficies of flesh and bone merely, a person of lines and surfaces; she was a language in living dypher no more".

Again, as Hardy kept himself open to his numerous "impressions", so Pierston waits anxiously for the "many internations" of the eluding beloved. This has been defined as an idiosyncrasy' of the sculptor and we know of Hardy's very special use of the word in his personal writings. Pierston's friend Somers criticizes this idiosyncrasy as fickleness. But Pierston's self-defence in the context expresses the artist's bewilderment and frustration as he fails to get a "firm hold" on his vision. "When I grapple with the reality" he says "she is no longer in it."³⁹ And naturally his artistic effort at creating images of his vision "had resulted in failures". He knows that all his images of beauty are "failures".⁴⁰ Pierston's idiosyncrasy does not allow him any repose either, until his surrender at the end. True, a common theme in Hardy is the interdestructive relationship of time and love. Which often resolves itself in an acknowledgment of the necessity of withdrawal (e.g. *A Laodicean, Two on a Tower*). But here the final withdrawal is prompted by other and more disturbing artistic reasons. [Neither is it to be hung upon public reputation. Like Hardy at the time, Pierston too despises public opinion, and believes that the artist's 'inherent bias' remained undisturbed by public reception.] Pierston's frustration is due to his aspiration for the perfect form, the adequate incarnation of the vision which he fails to possess personally or achieve artistically. Towards the end, as "white and cadaverous countenances of his studies" sneer at him. Pierston's self-criticism is bitter

with boredom and dissatisfaction. But the sense of failure has crept in even earlier. Although he has been able to mould and chisel forms "living enough", he mentions them as "all my venus failures". presented "deplorably"—the artist's unconcealed frustration as he grapples with the solid form, while the vision eludes. Even as a successful young man he has the fleeting realisation of "all as vanity". At the end Pierston looks back to his works over the years as "those failures", as "so many beautiful forms without the essence". This last review of his own career finally convinces the artist of the inadequacy of the former shapes his vision had taken, and he had idealized. Withdrawal remains the inevitable only course, as the recognition unmistakably crept in—the recognition of an inability to achieve and communicate something that is crucial to his artistic fulfilment. And he thinks in sadness: "Nobody would ever know the truth about him; what it was he had sought that had so eluded, tantalized and escaped him". The yearning for release from the frustrating compulsion grows strong. "He desired to put an end to his bondage".⁴¹

There are striking parallels between the nature and course of the two pursuits. The novel essentially is preoccupied with an exploration of an artistic predicament which was very like the novelist's own. Apparently, under the veneer of a quaint romance, the novel carries a subtle confession by the author. Hardy's letter to Swinburne which explained *The Well-Beloved* as a "fanciful exhibition of the artistic nature" also mentioned the novel with a tenderness that displayed special emotional involvement: "my fantastic little tale". But since the identification was conscious, it had also resulted in an opposite pull, a deliberate self-distancing by means of an ironic-comic narrative posture, occasionally touching the frivolity of a Joyce-like 'self-parodist'. Pierston's artistic obsession thus assumed the comicality of a "palpitating sheep". At the same time, however, Hardy does not fail to stress the withering effect of this obsession. The mathematical break-up of the 'contents' ['Young man of twenty' 'Young man of forty', 'Young man of Sixty'] indicates an unsureness that is surprising for a nature writer with approximately twenty-seven years of novel-writing. *The Well-Beloved* seems to be a broken pattern worked out by a tired author, who was nevertheless able to put across the idea of an incurable obsession on part of the protagonist, i.e., the artist's compulsive obsession with a certain vision which he vainly tries to grasp in the solidity of his material and in the reality of his personal life. In Pierston's case, his personal life is but a further shadow of the original artistic aspiration.

In this novel we find the novelist encountering his own creative self which Jocelyn projects just as *Mr. Noon* projects Lawrence, of course more exuberantly and optimistically. Hardy's defensively mystifying definition of the work as a "delicate phantasy" or "fanciful exhibition of a delicate dream" may have led critics to consider it lightly, as a "diversion written in the interval between two serious novels, an excursion into fantasy"⁴² But Hardy had also claimed or justified this novel as an "experimental work" whose interest was "subjective" and "frankly imaginative", not striving after "verisimilitude". Written at a time when Hardy had already decided to give up novel-writing, and could therefore write freely, the novel may well be considered "an example", as Pinion observes, "of what he was prepared to do and what he could do, given the time". Pinion stresses further: "... Although he had to resign himself to 'novel-writing as a trade' he had his own ideas about the novel which he, being a serial writer could not freely experiment." Pinion does not go deeper into the problem; nevertheless, he points out a significant fact when he shows how Hardy "was nearing the end of his patience" even before *Jude* was begun. As Hardy's awareness of the inconceivable multifacetedness of reality had been broadening over the years, compulsions of the realistic novel form were consequently getting more and more inconvenient, compulsions which Hardy accepted in practice, yet indistinctly kicked against.

Hardy had tried to reconcile the needs of the good form with his own essential commitment to truthfulness. Naturally he could not evade the awareness that important areas of his perception lay untouched by the good form. This probably worked behind his increasing dependence on symbols and growing interest in anti-realism. In 1907, four years, after *The Well-beloved*, Hardy says: "My own interest lies largely in non-rationalistic subjects, since non-rationality seems to be the principle of the universe."⁴³ How could one describe the manifestation of this principle in geometrically constructed, perfectly patterned form, with architectural solidity and specificity? In this context one may recall Hardy's definition of Hartmann's philosophy which he had found attractive: "a consciousness always striving to express itself and always baffled and blundering."⁴⁴ This leads to the crux of Hardy's own serious artistic problem,—the problem of expressing the illogical turmoil of life (of which he was getting more and more convinced) in the logicity of the perfect form, and the resulting bafflement. Pierston's predicament is, in a sense, a concretization of this problem of the artist, and its

attendant tension frustration, fatigue. It is quite possible that the tired novelist was looking for a resting place, and the exotic marble-strewn, sea-kissed undulation invited the tired mind to relax itself, and the 'phantasy' was 'born'. But serious preoccupations, gnawing at the artist's consciousness all the while, could not be suppressed. The agony, made lighter and beautified through the medium of phantasy, showed its tips in the agony of Pierston though projected with the deliberate distancing effect of a comic-ironic narration.

Indeed, "the complexities and anxieties of creative consciousness" and the "plurality of world-views" (David Lodge, 'Introduction', *The Novel Today*) which came up later to characterize the modernist novel, were already seen in Hardy. Part of Hardy's crushing richness was due to the baffling multiplicity of his perspectives which later gave rise to the 'multivalent' novel. Even authorial intrusiveness that is supposed to indicate a single unambivalent narrative stance, is in Hardy's case an index of shifting perspectives that merge to create philosophical and artistic confusion. But, as G. Graff points out in the article "The Myth of the Post-modernist Breakthrough", non-conformity was difficult at the time: "Throughout the nineteenth-century, ...artistic defiance of received traditions and conventions possessed a significance which can scarcely be duplicated by similar gestures today."⁴⁵ The other alternative was surrender. *The Well-Beloved* registered this act of surrender. It was born out of the novelist's realization of the inadequacy of his form, his feeling of overpowering constraint under a restrictive form, his sense of difficulty at striking a balance between plot, structure, coherence on the one hand, and the indirection of human life on the other. That Hardy, in his later years, was not at ease with this mode, is noted by Allen (*The English Novel*) who stresses "failures in the management of his plots", especially in *Jude*. Allen also noted that the "failure was almost inescapable" since Hardy had no adequate myth to body forth his view. Significantly it was in *Jude* that for the first time Hardy cast aside traditional life, and wrote a different story, a tragedy of unfulfilled aims. Pierston's too is a story of unfulfilled aims—this time frankly of the unfulfilled aims of an artist.

In a way *The Well-Beloved* reveals the novelist in the act of scrutinising his own house and detecting the rot as Graham Greene did in his autobiographical sketch 'A Sort of Life'.⁴⁶ The decision of demolition was confirmed as result. *The Well-Beloved* gives no apocalyptic ending in death in the Kermodean sense (*The Sense of an Ending*), as we find

in other Hardy novels. Yet, in a finer sense it is apocalyptic, as it exhibits the self-extinction of the artistic self. Naturally, it is in this tragicomedy that Pinion detects "the deepest note of sadness." When the release comes at last Pierston is thankful. Yet the artist wistfully remembers his deserted studies and the oblivious past. And the last sentence of the novel sounds like a half-serious obituary, betraying yearning for a road that has been left behind for ever. Here is an example of a failure which Hardy would have termed as failure greater than success.^{4 7}

Notes :

1. 'The Science of Fiction', *Thomas Hardy's Personal Writings*, ed. 4, Oral, Macmillan, p. 135.
2. Quoted by F. E. Hardy, *The Life Thomas Hardy*, 1970, p. 225.
3. Preface to *Poems of the Past and the Present*.
4. *Ibid 2*, p. 272.
5. Pinion, F. B., *A. Hardy Companion*, Macmillan, 1986, p. 146.
6. *Ibid 2*, p. 206.
7. *Ibid*.
8. *Ibid 2*, pp. 210-11.
9. *Ibid 2*, p. 225.
10. *Ibid 2*, pp. 228-29.
11. *Ibid 2*, p. 147.
12. *Ibid 2*, p. 285.
13. *Ibid*.
14. *Ibid 2*, p. 211.
15. *Ibid 2*, p. 177.
16. *Ibid 2*, p. 184.
17. *Ibid 2*, p. 185.
18. *Ibid 2*, p. 186.
19. Hoffman, E., *Expressionism*, Methuen & Co., 1956, p. 5.
20. *Ibid 19*, p. 6.
21. Miller, J. H., *Thomas Hardy : Distance and Desire*, Harverd University Press, 1970, pp. 215-16.
22. T. Hardy, *The Well-Beloved*, Macmillan, 1952, p. 90.
23. *Ibid 22*, p. 91.
24. *Ibid 22*, p. 7.

52. *Ibid* 22, p. 51.
26. *Ibid*.
27. *Ibid* 22, p. 55.
28. *Ibid* 22, p. 176.
29. *Ibid* 22, p. 48.
30. *Ibid* 22, p. 36.
31. *Ibid* 22, p. 11.
32. *Ibid* 22, pp. 155-56.
33. *Ibid* 22, p. 10.
34. *Ibid* 22, p. 75.
35. *Ibid* 22, p. 32.
36. *Ibid* 2, p. 291.
37. Cook, A., *The Meaning of Fiction*, Detroit Wayne State University Press, 1960, p. 241.
38. *Ibid* 22, p. 210.
39. *Ibid* 22, p. 52.
40. *Ibid* 22, p. 44.
41. *Ibid* 22, p. 202.
42. Pinion, F. B., *A Hardy Companion*, p. 145.
43. *Ibid* 2, p. 309.
44. Archer, W., *Real Conversations*, Heinemann, p. 1904.
45. *The Novel Today*, edited by M. Bradbury.
46. "The writer ...knowing the unreality of his work shouts to keep his courage up. There are faults in his work which he alone detects ; ...like a skilled intuitive builder he can sniff out the dry rot in the beams. How seldom has he the courage to dismantle the whole house and start again." Greene, G., *A Sort of Life*, Penguin Books, 1972, p. 156.
47. *Ibid* 2, pp. 334-35.

Thomas Hardy as a War-Poet

Mohit K. Roy

War is not a life : it is a situation.....

Eliot

Better known as a novelist than as a poet Hardy is, nevertheless a war-poet as well of great significance. Hardy is certainly not a war-poet in the sense Owen is a war-poet, because Hardy never fought in a war. Rupert Brooke, Julian Grenfell, Francis Ledwidge, Siegfried Sassoon, Wilfred Owen *et al* are warrior-poets. Yet Hardy's attitude to war as evinced in his war-poems has a striking affinity with the attitude of the soldier-poets. In fact, it will not be an exaggeration to say that with a remarkable prescience Hardy had anticipated the sentiments of the soldier-poets and appropriated them in his war-poems. Hardy's attitude to war is all the more interesting because it is congruent with his tragic vision that saw man as living and loving, labouring and perishing against the background of some inscrutable and inexorable forces. Its significance also lies in the fact that it is so different from the current sentimental attitude to war—an attitude that we find in the poems of Tennyson and Rupert Brooke—a kind of romantic conception of the soldier as a knight-errant, and glorification of war as an occasion for demonstrating patriotic feelings and self-sacrifice. Hardy does not deny that patriotism is a noble sentiment ; he would only widen the idea of patriotism to cover the entire world. Again, Hardy has also the highest regard for the endurance and fortitude of a soldier who willingly suffers for the sake of his 'country'. But with a profound humanitarian outlook, moving compassion and fine perception Hardy sees a soldier not just as a soldier but as a *man* and prizes the warmth of human relationship as something supremely valuable. "I am happy to say that not a single one is Jingo or Imperial", Hardy remarked about his war-poems.

The war-poems of Hardy which constitute only a small part of his total *œuvres* can be broadly divided into two groups related as they are

to the second Boer War (1899 -1902) and the first World War (1914—1918). *The Dynasts* (1903—1908) is also concerned with war, with Napoleon as the central figure. But there is a difference—and a vital one—between *The Dynasts* and other war-poems. While Hardy actually lived through the Boer War and the first World War, in *The Dynasts* he only imaginatively recreates a historical situation of the past. But there are many passages in this great epic-drama which foreshadow Hardy's attitude to war reflected in the war-poems written on the occasions of the second Boer War and the first World War.

Wilfred Owen, the most celebrated war-poet of the twentieth century, who died on 4 November 1918 wrote about his poems in an unfinished Preface :

This book is not concerned with Poetry.
The subject of it is War and the Pity of War
The Poetry is in the pity,

Owen's avowed position harks back to one of Hardy's poems, "The Pity of It" composed in February 1915 and published in April 1915. In this poem Hardy contends that the common soldiers are just puppets of sinister war mongers comprising possibly a group of oligarchs and munition makers. Like Owen Hardy was also horrified at the senseless slaughter of war. The soldiers, whether German or British, have no real enmity between them, The thematic affinity between "The Pity of It" and Owen's "Strange Meeting" ("Whatever hope was yours/Was my life also") is unmistakable. Hardy, in fact, goes to the extent of asserting that the Germans and the English are "kin folk kin tongued". The poem ends with a terrible curse imprecated on the war-lords :

"Whosoever they be
At root and bottom of this, who flung this flame
Between kin folk and kin tongued even as are we,

Sinister, ugly, lurid, be their fame :
May their families grow to shun their name,
And their brood perish everlastingly".

The racial homogeneity between the Germans and the English is also the theme of his poem, "England to Germany in 1914" where Hardy appeals to the German war-lords by pointing out that the Germans and the English are from the same racial extraction. Moreover, he also reminds them that the English have always admired the German landscape :

We have loved your burls, your pines' green moan
Fair Rhine-stream, and its storied towers ;
Your shining souls of deathless dowers
Have won us as they were our own ;

The complex feeling of compassionate regret and unequivocal protest that characterizes Hardy's poems associated with the first World War can be distinctly discerned in the earlier cluster of poems occasioned by the second Boer War declared in October 1899 as a reaction to Paul Krieger's ultimatum. It may be recalled in this connection that Paul Krieger, son of a Boer farmer came to be recognised by 1883 as the top man in South African Republic and he was elected President. Krieger dreamed of a Boer Empire. But his vision was matched and counter-acted by Cecil Rhodes, an Englishman and the son of a country clergyman who went to South Africa, became fabulously rich and believed passionately in the idea of British imperialism. Rhodes dreamed of British influence from "Cape to Cairo". The British Empire at war with small republics in South Africa clearly laid bare Britain's imperialistic designs. As the troops began to leave for South Africa from Southampton Hardy records his feelings in "Embarcation". Like Marlow in *Heart of Darkness* Hardy draws historical parallels and associates Southampton with three wars of imperial conquests. He parallels the South African war with Roman and Saxon conquests and wonders why nobody questions the war: "None dubious of the cause, none murmuring". Hardy could clearly see through the mask of patriotism and felt distressed at the misery of the commonfolk on account of the diabolical greed and scramble for power of a few war-lords. He also regrets that even in a 'civilized' age people could "argue in the selfsame bloody mode". Is civilization only a superstructure, and man basically a savage ?

In keeping with his general world-view Hardy thinks of internationalism as the only possible solution to the problems that give rise to war. In a letter to Galsworthy Hardy wrote: "The exchange of international thought is the only possible solution for the world". In "Departure" Hardy wonders why patriotism cannot transcend its parochialism and "include earth and seas". In 1917 Hardy wrote that "nothing effectual will be accomplished in the cause of Peace till the sentiment of *Patriotism* be freed from the narrow meaning attaching to it...and be extended to the whole globe".

In a tone of pity distilled of war Hardy points out that the common

soldiers are mere "puppets in a playing hand" and asks in a tone of violent bitterness :

When shall the saner softer polities
Whereof we dream, have sway in each proud land
And patriotism, grown Godlike, scorn to stand
Bondslave to realms, but circle earth and seas ?

The idea of internationalism is also echoed in a later poem "His Country" where it dawns on the *persona* that his country is not confined to any particular region. He muses :

"What is there to bound
My denizenship ? It seems I have found
Its scope to be world-wide."

In "The Colonel's Soliloquy" the colonel, a professional soldier, realizes, rather late in the day, the folly of war. The undertone of disillusionment that marks the poem actually emanates from Hardy's life-long concern and solicitude for the ordinary mortals, the commonfolk. Instead of glorifying war he focusses on the damages done by war to the warm human relationships and tender domestic sentiments. In "The Going to the Battery" it is the wife's lament and the pathos of departure that bring the band music and pealing of bells into an ironical relationship with the situation. The illusory jubilation is completely undercut by real sorrow. In "A Wife in London" Hardy highlights how the dreams of a young couple are ruthlessly shattered by war. In this poem which is ironically structured, first comes the "flashed news" of the husband's death in war away from home in a foreign land ; and next day arrives the letter—obviously posted long before the casualty—in which he writes at length about his plans for the future. The letter only adds poignancy to the agony of the girl already widowed by war at the prime of her youth. In "The Souls of the Slain" Hardy provides a realistic perspective to the poem in which the dead soldiers realize that the glory of war is only an illusion, and, caught in a mood of nostalgia they wonder what their wives would probably live by :

"And our wives ? quoth another resignedly,
"Dwell they on our deeds ?"
—"Deeds of home ; that live yet
Fresh as new—deeds of fondness or fret ;

And their mothers also would not prize their military valour, but

“...muse sadly and murmur
Your doings as boys—
Of your babyhood’s innocent days.

Significantly, “Song of the Soldiers’ Wives and Sweethearts” captures the mood of jubilation of the wives and the sweethearts as the soldiers return home, but maintains a meaningful silence about their heroism or glory.

War blights possibilities. It uproots “by the night-gun’s stroke/Of what the Yester noonshine brought to flower”, Hardy says in “In Time of Wars and Tumults”. In “Cry of the Homeless” the people rendered homeless after the Prussian invasion of Belgium, curse the Conqueror :

‘May thy love be slighted, blighted,
And forsaken,’ be it said
By thy victims,
‘And thy children beg their bread !’

But then comes the “richer malediction” :

“Nay : a richer malediction !—
Rather let this thing befall
In time’s hurling and unfurling
On the night when comes thy call ;
That compassion dew thy pillow
And bedrench thy senses all
For thy victims,
Till death dark thee with his pall.”

Modern warfare is different from earlier warfares of days of chivalry when warriors strictly followed the code of honour. But, now, in any war, honour is the first casualty, and as a natural consequence, innocent civilians and children are mercilessly slaughtered. By 1914 war in the air and under the water had developed enormously. Old weapons were either drastically modified or replaced by newer and more sophisticated ones. The weapons became more and more deadly and diabolical. In the first World War gas, artificial fog, liquid fire and tanks were brought into operation. Modern warfare reminds Hardy of Herod’s killing of children :

Herod breathes : “Sly slaughter
Shall rule ! Let us by modes once called accurst,
Overhead, under water,
Stab first”.

When the armistice was signed at last on 11 November 1918 Hardy, then 78, wrote a poem, "And There was a Great Calm". The poem is remarkable as an expression of Hardy's bitter hatred of war and the stark realism in which that hatred is verbalized. The evil of war has "a brute-like blindness" about it and Hardy sees the period of the first World War as "the four years' dance / Of Death". The poem ends on the question raised by the Spirit of Pity: Why the War "had to be". It is only a few power-hungry war-mongers who incite the commonmen, drag the simple, peaceful men into war, uproot them from their sweet domestic environments and slaughter innocent civilians including women and children; even the animals are not spared. The colossal waste of life and love is the gift of war!

It is true that Hardy never fought in a war. But there is hardly any aspect of war that escaped his notice and contemplation. The soldier-poets in the battlefield only realized the profound truth of Hardy's perceptive and prophetic utterances. In a way the soldier-poets practically carried on, with courage and conviction, the war on War so powerfully waged by Hardy even before the first World War had broken out.

Anticipation of certain themes of Shakespeare's later drama in his *Venus and Adonis* and *The Rape of Lucrece*

Akram Hossain

In April, 1593, *Venus and Adonis* was entered in the Stationers' Register, and a year-later, *The Rape of Lucrece* appeared with a signed dedicatory epistle to the Earl of Southamton. The years 1591-4 were marked by frequent outbreaks of bubonic plague and this, along with civic disorders, such as agitation against the alien artisans in London, resulted in the closure of the theatres from the summer of 1592 intermittently for nearly two years. And there is no reason to doubt that these were the reasons which led Shakespeare to turn to poetry.

Both poems—*Venus and Adonis* and *Lucrece* were much admired in Shakespeare's life-time. The former was reprinted eight times and the latter went through eight editions: while in the same period his *Romeo and Juliet* (one of his most popular plays) passed only twice through the press. The immense popularity of these two poems assumed the status of the foci of references in many a contemporary writing.

But in the critical reception accorded to *Venus and Adonis* and *Lucrece*, there is a great lacunae. Of the dozens of references to the seeds in the poems to burgeon in Shakespeare's later drama, most are made *passim*. However, taking clues and cues from the editors' annotations and the critics' commentaries we would like to show how the two poems foreshadow certain themes or look forward to the 'spiritual landscape'² of Shakespeare's later drama.

Man shared his appetitive soul with lower animals—its concupiscible impulse drove him towards objects. To Shakespeare the worst sin that has ever appalled and chagrined him is lust which destroys the infinitude of the spirit and the image of God in man. Concupiscence or the desire of the flesh is one of those externals, which must not be allowed to rule over the inner spirit. The flesh is almost overpoweringly present in *Venus and Adonis*. Adonis is about to go hunting when Venus begins

without delay to woo him. She ties up his horse, pushes him down into the grass and tucks him under her arm. She pants, sweats and pulls Adonis down on top of her, batters on him. But Adonis remains insensible to all the caresses, blandishments, sophistries of the transcendent beauty ; 'She red and hot as coals of glowing fire,/He red for shame, but frosty in desire'. To Venus' last solicitation : 'Be prodigal', Adonis gives the self-righteous answer :

I hate not love, but your device in love

 Love comforteth like sunshine after rain,
 But lust's effect is tempest after sun ;
 Love's gentle spring doth always fresh remain,
 Lust's winter comes ere summer half be done ;
 Love surfeits not, lust like a glutton dies,
 Love is all truth, lust full of forged lies,¹
 (1789. 799—804)

Lucrece is an example of 'lust in action'. The beauty of Lucrece that Tarquin sees with his own eyes fires his sex passions and spurs him on. Lucrece implores, Tarquin by what was dear to him before he became passion's slave by the honour of knighthood, by friendship, holy human law, common loyalty, sacred hospitality, and human pity. But all her pleadings are of no avail. Tarquin gives in to his concupiscible intemperance, he gags his struggling victim. Lucrece kills herself.

Shakespeare further treats the theme of lust in *All's Well That Ends Well*, *Troilus and Cressida*, *Measure for Measure*, *King Lear*. Bertram (in *All's Well*) is randy. Helena, his virtuous wife is 'left feeling prostituted'². Isabella (in *Measure For Measure*) tastes 'rancid' Cressida is one of the "sluttish spoils of opportunity,/And daughters of the game" (IV. V. 62). Regan and Goneril (in *King Lear*) are open rivals for the love of Edmund to slake their lust. We shall not pursue the matter here for there is already a great deal of writing on it.

The invitation to marry, to procreate is a Renaissance topos. In *Venus and Adonis* Venus exhorts the boy not to keep his splendid beauty to himself but to use his power to procreate his kind. Venus pleads :

Torches are made to light, jewels to wear
 Dainties to taste, fresh beauty for the use,
 Herbs for their smell, and sappy plants to bear,

Things growing to themselves are growth's abuse,
Seeds spring from seeds, and beauty breedeth beauty ;
Thou wast begot, to get it is thy duty.

... ..

By law of nature thou art bound to breed,
That thine may live when thou thyself art dead ;
And so in spite of thou must survive,
In that thy likeness still is left alive".

(11 163—168, 171—174)

Venus warns him not to play Narcissus who 'died to kiss his shadow in the brook'. (11 161—2).

This theme of self-destructive self-love or the Narcissus image has recurred again and again in Shakespeare's later drama. We have an earlier reference to it in *Romeo and Juliet*. Romeo and Benvolio converse on the same theme concerning Rosaline—'O, she is rich in beauty ; only poor/That, when she dies, with beauty dies her store' (1. 11. 13-14). Rosaline 'hath sworn that she will still live chaste'. This alarms Romeo for 'in that sparing' she 'makes huge waste'. However the theme does not receive any further treatment in the play. The trajectory of Romeo's career follows a different course. One notorious self-styled reprobate Parolles in *All's well* urges upon Helena to forsake virginity: 'Virginity by being once lost may be ten times found ; by being ever kept, it is ever lost...virginity murders itself, and should be buried in highways, out of all sanctified limit, as a desperate offendress against nature...Besides, virginity is peevish, proud, idle, made of self-love, which is the most inhibited sin in the canon. Keep it not ; ...Out with it'...(1.i 122-23, 132-142) This theme too in *All's well* does not develop and Helena does not keep her vow 'to die a Virgin (1.i.126).

But in *Twelfth Night*, dramatic possibilities of Narcissism have been explored. Viola in male attire rebukes Olivia for withholding her beauty from the world in self-indulgent isolation : 'Tis beauty truly blent, whose red and white/Nature's own sweet and cunning hand laid on./Lady, you are the cruellest, she alive/If you will lead these graces to the grave,/And leave the world no copy.' (1.V. 223-27) This gives sudden twist and jolt to Olivia's preconceived ideas. She begins to appreciate the nuances of love. She comes out of her cloister. Orsino too comes to realise that his love is narcissistic, 'love in potentia', love at safe distance.

Thus the avowal of love and the desire to love and to be loved give rise to a series of dramatic situations.

Narcissism in another different form manifests itself in *Macbeth*. On the more primary level of narcissism, Macbeth wants to make himself, his domain and dominion coeval and coextensive. This sort of self-love which destroys man can be explained in Augustine and Freudian terms. St. Augustine believed that inordinate self-love, the soul's to be omnipotent, to be everything ultimately results in and is born of emptiness, of nothingness.

Venus gives us enough suggestion about the role of mothers as world-creator. Even a good mother can ruin her son as a bad mother. might inspire demented passions in him and she can also cause imbalance in his sexual behaviour. Venus upbraids Adonis :

Art thou a woman's son and canst not feel
What 'tis to love, how want of love tormenteth ?
O had thy mother borne so hard a mind,
She had not brought forth thee, but died unkind,
(11 201-204)

Venus is supposed to mean that it is for the lack of motherly care, love and nurture in the proper way that Adonis has become 'obdurate, flinty, hard as steel', a simulacrum of a man but 'of no woman bred' (1 215). Psychologically speaking a man's 'first erotic relationship' is with his mother. Freud argues in *On Narcissism* that a child initially experiences his mother and her nourishment as a virtual extension of himself. In infancy both the mother and the child experience a sense of symbiotic union, and that sense continues in a child's early development, as his possession of his mother and her love becomes an objectification of his most idealised vision of himself. Eventually, with his father both an obstacle and a support, a boy surrenders much of his narcissism and learns to transfer his erotic feelings from himself and his other mother to other women. But a man's image of his mother is never lost, and in his deepest and most complete sexual relationship, his early sense of union with his mother, "the primal condition in which object-libido and ego-libido cannot be distinguished", remains the model of sexual ecstasy and the source of his most passionate as well as most exalted feelings.⁸ This oedipal complex is turned into oedipal family dynamics in Shakespeare's later drama. *Hamlet* can be called a textbook case of

'Oedipal conflict'. The genesis of Hamlet's sex-aversion may be traced to his feeling of revulsion against the adulterous marriage, the 'Overhasty marriage' of his mother with the murderer himself. OPhelia coaxes him into tender feelings but Hamlet recoils with repulsion: 'I could accuse me of such things that it were better my mother had not borne me'. (III.i. 123-24). This recoil from all sorts of sexuality is caused by his cognizance of his mother's sexuality 'which destroys Hamlet's infantile image of his parents as parents and his image of himself as an innocent child. And he copes with the disgust as an Oedipal child would, by splitting his image of Gertrude (his mother as his first sexual love and the continuing epitome of sexuality) into an idealised and sexual version: the fair Gertrude with a rose on her forehead in celestial union with Hamlet's godlike father - the blistered Gertrude, preying on 'garbage' in the rank sweat of Claudius "enseamed" bed.⁴ Coriolanus's fall seems firmly rooted in his helpless dependence upon his mother. To this fearsomely masculine matron, Coriolanus brings his war victories as love offerings. Volumnia inspires the mingling of war and mother-love in her son by speaking of his military feats as vicarious substitutes for 'the embracements of his bed.'

Venus tries to persuade Adonis by separating the purer from the grosser part of love. Her '*love is a spirit all compact of fire, | Not gross to sink, but light, and will aspire.*' (LI 149-50) This is the old conceptual system of nature composed of four elements—fire, air, water and earth. In more than one of his plays Shakespeare makes a thematic use of this old scientific notion of 'elements'. In ascending hierarchical order, 'the dull elements of earth and water' (Henry V, III. VII. 22-23) move downward and those fire and air tend to move upwards, as the dying Cleopatea says, '*i am fire and air, my other elements | give to beser life*' (V. ii 291). 'The world itself', according to Heraclitus, 'is an ever-living fire; kindled in measure and in measure going out. The hierarchic arrangement of elements implies a division into elements of motion and stagnation, i.e. fire and air, on the one hand, and earth and water, on the other.'⁵

Shakespeare might have laughed at the most hackneyed use of the 'elements' in his *Twelfth Night*. Festy cracks a smutty joke: 'Who you are and what you would be out of my welkin. I might say "elements", but the word is overworn.' Malvolio fails to see through the joke. He uses the overworked word: 'You are idle, shallow things. I am not

of your element.' But Shakespeare does never seem to repudiate the Pythagorean doctrine of 'elements'. Pythagoras' doctrine of *tetrad* is inextricably linked with the thematic significance of the play at a deeper level. Shakespeare had a firm belief in Pythagoras' doctrine of substance and cosmic unity. According to Macrobius' interpretation of Pythagoras' *tetrad* in the light of *Timaeus* the stability in the cosmos is possible only in perfect harmony of these four elements, for the two are held together by two interlocking mean terms: Earth is dry and cold, and water cold and moist; but although these two elements are opposed, the dry to the wet, they have a common bond in their coldness. Macrobius seemed to allegorise the elements. He finds in them the paradigms of Necessity, Harmony and Obedience. Shakespeare might not follow the 'allegorised' elemental system but he has at the back of his mind Spenser's treatment of the four elements typifying the four moral types in *The Faerie Queene* BK. IV. Orsino, Viola, Sebastian and Olivia form a human tetrad linked together by the silken cords of love that were at first at odds with one another. In their conflicting affinities of love, friendship and kinship, they discern the pattern of four elements.⁶

Self-knowledge or *Gnothe Sauton* ('know thyself') is rightly said to be the prime principle behind the sonnets, the poems and the plays, more specially the great tragedies of Shakespeare. The Renaissance, showed a great interest in exploration of self-knowledge. The ancient's slogan *nosce teipsum* became a universal watchword. Direct allusions to self-knowledge through phrases denoting knowing oneself, not knowing one self "finding ons self, being one self. being true to oneself, and losing oneself, not being oneself and forgetting oneself" were found galore in Shakespeare.

The auto-dignosis of Adonis is remarkable. Exasperated in body and mind, Adonis pleads to stop her sophistries and blandishments taking into consideration his age and his lack of self-knowledge: "Fair queen, quoth he, "if any love you owe me, /Measure my strangeness with my unripe years. /Before I know myself, seek not to know me." (528-25). But Venus is hardly undeterred. Her longing is insistent and urgent. But the lack-of self-knowlege for which Shakespeare's tragic heroes often destroy themselves is not synonymous with 'Harmartia' which is 'vu garly translated' in its application to Shakespeare as 'the tragic flaw'. But for Aristotle, the term did not have the psychological or moral implication it has in modern use, but meant merely something like "miscalculation".⁸

Lear's is a frenzied self-questioning 'Who is it that can tell me who I am'—The fool replies 'Lear's shadow' (I. iv, 222-3), In the old play the king tells a lord to 'think me but the shadow of myself.' Here Lear goes on to say that he must learn to think of himself as but a shadow since his badges of rank, his memory, and his reason tell him that he is Lear, the father of Goneril.⁹

Angelo's self-image (*Measure for Measure*) as a clean man of virtue and temperance is blown to pieces when he cannot resist his lust for Isabella. The incestuous passion conquers the reason of which he was so proud. He too no longer knows himself: 'What dost thou, or what art thou, Angelo?' (II. ii. 173).

Macbeth staggers out muttering these words; 'To know my deed, 'twene best not know myself' (II. ii. 173) after murdering Duncan. Here Macbeth seems in some way to associate self-knowledge 'with a moral way of life'. Pace to Rolf Soellner that elsewhere the context of the reference does not give any satisfactory explanation of its meaning, it can be said that the agonising utterance of Macbeth has far-reaching implications. The utterance purports to mean that Macbeth can only retain confidence in his identity, remain composed, by suppressing what he has done. He articulates threatening awareness that his deed will fracture this coherent self-and force a new self-definition.

Troilus raises the 'identity' question in the first scene of the play :

Peace, you ungracious clamours !
Peace, rude sounds !
Fools on both sides. Helen must needs be fair,
When with your blood you daily paint her thus.
I cannot fight upon this argument
It is too starv'd a subject for my sword.
...O Gods, how do you plague me !
Tell me, Apollo, for thy Daphne's love
What Cressid is, What Pandar, and what we ?

(LI. 88-98)

Troilus here speaks of the lack of self-knowledge in man. The ungracious sounds of war repel him and emphasize the dichotomy and disharmony in his heart. He seeks replies from the gods who were reputed to have demanded that man must know himself. Shakespeare's tragic heroes destroy themselves because they do not know themselves or they do not care to know who they are.

An overwhelming sense of disintegration into primal chaos is the

essence of Shakespearian tragedy. In the Old Testament, we read of the *creation* of the world by God of what the Bible calls the 'void', which is 'nothingness'. In Shakespeare's tragedies and in Metaphysical poetry of the 17th century, this is often referred to as 'Chaos'. But the sense in which the word recurs again and again in Shakespeare is not altogether biblical. The idea of Chaos there may also be enshrined in the new Renaissance relativism which actually shook the monolithic bastion of the theory of 'geocentric and well-enclosed Ptolemaic universe'. The Copernican theory that the earth moves round the sun ushered in a new age. In addition to Copernican revolution, Giordano Bruno's view of the universe (inclusive of space and matter together) as 'extensive' universe in contrary to the 'intensive' infinity of substance and the universe as 'a living reflection' of the Infinite Substance and his concept of the plurality of the worlds and other 'disturbing' developments championed the view that corruption and mutability 'affected not only the sublunar, but also the supralunar universe'. Shakespeare did not ignore the implications of all these innovations and developments. Lear's painful discovery of a universe apparently hostile to his well-being and ruled by malevolent powers suggests 'an analogue to the Renaissance questioning of scripturally based anthropocentricity and geocentricity'. The ideas of Chaos is further affirmed and corroborated by phenomena that occurred in 1572. In that year, a bright star followed by others in 1600 and 1604 suddenly made its appearance and gradually disappeared. The event was interpreted to demonstrate the impermanence even of this transitory cosmos and it showed signs of decay as 'apocalyptic portents' of the approaching universal doom and dissolution. This is exemplified. "O ruined piece of nature!" exclaims Gloucester in horror at the heart-rending sight of his king, 'This great world/ Shall so wear out to nought!'¹⁰ (IV. vi. 135-96)

This idea of chaos and its thematic significances in Shakespeare's other later dramas is anticipated earlier in his *Venus and Adonis*. Adonis finally glides into the night. Venus has her premonitions that Adonis might get killed and at once fears the worst:

For he being dead, with him is beauty slain,
And beauty dead, black chaos come again
(LI. 1019-1920)

Othello speaks endearingly of his wife Desdemona:

Excellent wretch! Perdition catch my soul
But I do love thee; and when I love thee not
Chaos is come again.

Apart from the meaning of primal darkness, the lines show Othello's desperate bid to retain his belief in his wife. This desperate necessity to sustain belief is a part of the need to believe in Elizabethan world of 'incipient doubt', the world being 'animistic and vitalistic, indeed panpsychistic, magically oriented, and from our view-point, credulous.'¹¹

Shakespeare's *The Rape of Lucrece* (1594) like *Venus and Adonis* preserves the seeds of some of his later works. Collatine, the husband, seems to destroy his wife, Lucrece. During the seizure of Ardea, all the 'principal men' assemble at the tent of Sextus Tarquins and each one commends the virtues of his wife. Collatine too 'Unlock'd the treasure of his happy state : What priceless wealth the heavens had his lent, / In the possession of his beauteous mate ; / Rack'ning his fortune at such high proud rate / That kings might be espoused to more fame, / But king nor peer to such a peerless dame' (Ll. 16-21). This commendation of Lucrece immediately triggers in Tarquin the lustful passions for her and 'to quench the coal which in his liver glows' (l. 41) he darts of the tent 'privily', reaches Collatium the same night and violently ravishes her. Lucrece in her lamentable plight stabs her after ensuring that Tarquin will be duly punished.

The story reminds one of *Macbeth*. Macbeth too seems responsible for the untimely death of his wife. Lady Macbeth is supposed to have already received the news of the meeting of her husband with the witches. In Act I, Scenes V, she is seen reading her husband's letter which brings 'great news'. The prophecy of the witches fires her with ambition as much as it does Macbeth. She immediately makes up her mind : her husband shall be what he is promised and what he wants to be. She instigates her husband to murder Duncan who is coming to Macbeth's castle as a guest. She is ambitious for her husband, and not for herself. It is for him that she willingly wants to unsex herself and fill her 'from the crown to the toe, top full / of direst cruelty' (I. V. 39-40). Lady Macbeth cannot foresee that by under-rating the strength of her husband She, ipso facto, over-rates her own strength. Her energies in the Banquet Scene (III. iv) are but last flicker of the embers that are already dead.

Lucrece may be termed as an 'inverted' *Macbeth*. The guest-host relationship dealt in the poem receives a new dimension in *Macbeth*, *Cymbeline*, *The Winter's Tale*. Macbeth murders Duncan, his honourable guest in the castle. The case is reversed in *Lucrece*, where the host ravishes her guest and becomes the cause of her untimely death. The host too is not spared. The Romans did consent 'To Tarquin's everlasting

banishment' (l. 1855). The guest and the hostess narrowly escaped death, the host experienced a kind of life-in-death or death-in-life in *The Winter's Tale*. The 'Yellow Iachimo', the guest made the life of hostess subject to many excruciating trials and tribulations in *Cymbeline*.

Lucrece is again recalled in *Macbeth*. The setting of Lucrece's rape is described as follows :

Now stole upon the time the the dead of night,
When heavy sleep had clos'd up mortal eyes,
No comfortable star did lend his light,
No noise but owls' and wolves' death-boding cries ;
Now serves the season that they may surprise
The silly lambs : pure thoughts are dead and still,
While lust and murder wakes to stain and kill.

(Ll. 162-68)

A similar setting is in *Macbeth* for the murder of Duncan :

Now o'er the one half-world
Nature seems dead, and wicked dreams abuse
The curtained sleep, Witchcraft celebrates
Pale Hecate's offerings ; and withered murder,
Alarum'd by his sentinel, the wolf,
Whose howl's his watch, thus with his stealthy pace,
With Tarquin's ravishing strides, toward his design
Moves like a ghost. (Il. i. 49-56)

The eight stanzas are devoted to Tarquin's mental see-saw why he should not rape Lucrece. He debates within :

What win I if gain the thing I seek ?
A dream, a breath, a froth of fleeting joy.
Who buys a minute's mirth to wait a week,
Or sells eternity to get a toy ?
For one sweet grape who will the vine destroy ?

(L. 211-15)

... ..

Tarquin speaks of Collatine, his friend :
But as he is my kinsman, my dear friend,
The shame and fault finds no excuse nor end.

The mind still stirs with scruple :

She took me kindly by the hand,
And gay'd for tidings in my eager-eyes

(Il. 253-54)

Tarquin's mental see-saw is akin to that of Macbeth prior to murder. Macbeth gives reasons why he should not proceed with the assassination : violence produces violence : Duncan is his kinsman and he his subject ; the laws of hospitality are *sacrosanct* ; Duncan's virtues will plead like angels, trumpet-tongued against the deep damnation of his taking-off". (I. vii. 19-20)

The atmosphere of night in *Lucrece* recalls the night of Duncan's murder. Tarquin 'stalks' towards Lucrece's bed chamber, at 'dead of night when no comfortable star did lend his light, / No Noise but owls' and wolves death-boding cries ; Night-wand' ring weasels shriek... They fright him... The wind wars with his torch. Similarly, the night before Duncan's murder is very dark, ominous, moonless ('The moon is down. 11.i.2:). Starless (there's husbandry in heaven ; / Their candles are all out. 11.i. 6-7).

But the parallels between Lucrece and Macbeth are not simply confined to description, The parallels include characterization. Tarquin is the first draft for Macbeth. Like Macbeth Tarquin is an introspective man, fully conscious of what he stands to lose ; the innocence of the victim and the horror of the deed weigh heavily with him.¹² He tries to console himself with the thought of acting by night : 'The eye of heaven is out, and misty night / Covers the shame that follows sweet delight. (11 356-7)

The parallels between the two works also focus on the common theme which is best described in a couplet in the earliest of Shakespeare's romances *Cymbeline*. The couplet runs thus :

One sin, I know, another doth provoke ;
Murder's as near to lust as flame to smoke.
(I.i. 138-139)

Comparing *Lucrece* and *Macbeth*, M. C. Bradbrook writes : 'The crime which Tarquin commits, even more clearly though not more truly than Macbeth's, destroys the natural ties between him and the rest of humanity. It is a sort of suicide .. Macbeth's real victim is himself :

Tarquin also appears to be an early study for another night prowler-Iachimo in *Cymbeline*. Iachimo is fired like Tarquin with an account of his friend's wife's purity and visits the wife's house as a guest. The wife Imogen like Lucrece welcomes the visitor and offers him his due hospitality. Iachimo gains access to Imogen's bedroom by hiding in a trunk. After she goes to sleep, he emerges from the hiding place and describes his action :

The crickets sing, and man's O'erlabored sense
Repairs itself by rest, Our Tarquin thus
Did softly press the rushes ere he wakened
The chastity he wounded.

(11.ii. 11-14)

He does not in fact rape her but there is instead the rape of an innocent wife's reputation. Iachimo observes enough details so that he can misrepresent her chastity to her husband. And by a phoney recital of her defiled chastity, he succeeds in causing a breach between the husband and wife that is only to be healed after much ordeal.

Lucrece, seeking some correlative for her woe, studies the paintings of scenes from the fall of Troy. The painting of Troy and the tale of woe suit her present mood. Lucrece finds in Hecuba the image of her own grief and she finds in Sinon the image of deceitful, hypocrite Tarquin, which so transports him that 'she tears the senseless Sinon with her nails'.

In the painting 'blunt rage and rigour rolled in Ajax' eyes. Ulysses is sly. Hector bold. Pyrrhus is a brutal killer. Helen is a strumpet. The lustful Paris brought the doom of Troy. Priam is blamed for not restraining his son in time. The Trojans as a whole ought not to have been punished. The point of difference between *Lucrece* and *Troilus and Cressida* is that both sides—the Trojans and the Greeks are presented more critically. The debate in Troy enables the poet to show that the blame must be shared by all the Trojan leaders and the Greek heroes are all presented in an *unflattering* light as possible.¹⁸

Hecuba in the painting is an image of suffering, whom Shakespeare was again to use in *Hamlet*, a later play, for the paradigm of awe-inspiring grief. Listening to the Player's speech, Hamlet is particularly moved by the plight of Hecuba after Troy's fall and Priam's. In the soliloquy that follows, Hamlet says, "For Hecuba / what's Hecuba to him or he to Hecuba. / That he should weep for her?" (11. ii. 551-3). Surely, Hecuba is nothing to the player but to Hamlet she is more than the image of grief. She is to Hamlet his mother's substitute and just a *dramatis personae*.

Noble characters in Shakespeare's plays are generally of high birth. But nobility based upon moral value does not always inhere in birth. Virtue, *virtus* in the ethical sense as the Roman Juvenal declares in his Eighth Satire, consists in the true nobility: '*nobilitas sola est atque unica virtus* (viii, 20)¹⁹. Hamlet is a noble soul. His nobility is a beacon

light, a transcendental trait which is feelingly apprehended by Ophelia :

O, what a noble mind is here O'erthrown !
The courtier's, soldier's, scholar's, eye, tongue; sword,
Th' expectancy and rose of the fair state,
The glass of fashion and the mould of form,
Th' observ'd of all observers' quite, quite down !
(III. i, 152—6)

The concept of nobility here in *Hamlet* and in other later plays of Shakespeare is anticipated much earlier in *Lucrece*. Tarquin reels under the frenzy of uncontrollable sex passions and is desperate to slake his lust. Lucrece fervently appeals to make him realise who he is—'*Thou art, a god, a king*', ...'*Princes are the glass, the school, the book*' | '*Where subjects eyes do learn, do read, do look*'. (ll. 615—6), '*thou art, a sea a sovereign king*', '*The cedar stoops not to the base shrub's* (l. 664). But all these appeals to Tarquin's sense of honour fall on deaf ears. Lucrece is ravished. Nobility degenerates into sheer, sickening baseness. Lucrece fulminates :

The baser is he, coming from a king,
To shame his hope with deeds degenerate
(ll. 1003—4)

The theme of degeneracy of noble men of descent and highest rung into baseness, bestiality is tellingly exploited elsewhere. The contrast between the noble and the base, the noble and the base-born has been emphasized again and again and has become the focal point in later drama. The noble Othello could easily be duped by Jago, Lear could cast out Cordelia and Macbeth could murder Duncan. The base-born Edmund (in *King Lear*) could cast out Edgar, double-cross his father, and the father's eyes were pulled out and he was thrown off his own castle.

Shakespeare was obsessively concerned with the theme of time throughout his career. Its origin is often traced back to the three roots of Renaissance idea of time : the medieval idea of the transitoriness of life, the revival of classical *topoi* and the cult of beauty (See *New Essays on Shakespeare's sonnets*, ed. by Hilton Landry). In addition to this triad, the three Leonardian images of time are also taken into account. Geological time—the time of the earth, of ocean and mountain erosion, Archaeological time—for all history becomes Archaeology in the end : the pyramids, cities, kingdoms etc. are subject to dissolution in course of time and human time in which grave stands next to cradle and all

faces are mortal. (Shakespeare's Sonnets, Case-book series, ed. by Peter Jones).

Lucrece inveighs against time as destroyer and revealer :

Mis-shapen time
Eater of youth.....
Thou nursest all, and murder'st all that are :
O hear me then, injurious shifting time !
.....
Time's glory is to calm contending kings,
To unmask falsehood and bring truth to light,
To wrong the wronger till he render right,
To ruinate proud buildings with thy hours,
And smear with dust their glittering golden towers ;
To fill with worm-holes stately monuments,
To feed oblivion with decay of things,
To blot old books and alter their contents.
To pluck the quills from ancient ravens wings,
To spoil antiquities of hammer'd steel,
And turn the giddy round of fortune's wheel.

Time is a significant theme of *Troilus and Cressida*. Ulysses is concerned to stress only its destructive powers :

Time hath my lord, a wallet at his back,
Wherein he puts alms for oblivion,
A great-siz'd monster of ingratitude,
Those scraps are goods past, which are devour'd
As far as they are made, forgot as soon as done.
(III. iii. 149—9)

The 'allegorical concept of time as a maturing process' is explored in *King Lear* unfolding matters, revealing truth, destroying evil. It brings suffering and death, it also heals and redeems, for 'Ripeness is all' and 'the oldest hath borne most'.¹⁵

References :

1. All the quotations are from *Shakespeare's Poems*, ed. by F. T. Prince (Methuen), 1982.
2. A. P. Rossiter, *Angel with Horns*, pp. 101—2, 1961.
3. Shakespeare's tragedies in *William Shakespeare, His Work*, ed. John F. Andrews, p. 513, 1985.

4. Shakespeare's Psychology : Characterization in Shakespeare in *William Shakespeare*, p. 508.
5. Divided Love : An Approach to Shakespeare's Sonnets, *Jadavpur University Essays and Studies V*. 1986, p. 16.
6. I am indebted to Alastair, Fowler *Twelfth Night and Epiphany* in Renaissance Essays, Edt. by Sukanta Choudhuri, O. U. P. for the ideas here, 1995.
7. Rolf Soellner : *Shakespeare's Patterns of Self-knowledge*, Ohio State Univ. Press, p. 281.
8. Op. cit.
9. King Lear, ed. R. E. C. Houghton, O. U. P., Calcutta, p. 175.
10. See W. R. Elton's *Shakespeare and the thought of his age* In Cambridge Companion To Shakespeare Studies, ed. Stanley Wells, for the ideas treated here. p. 31.
11. Op. cit. p. 24.
12. Hutchinson, p. 55.
13. Kenneth Muir's *The Fusing of Themes* in Troilus and Cressida Case Book Series, pp. 82—33.
14. See '*Hamlet and the Concept of Nobility*' in J. U. Essays and Studies V, 1968, p. 23.
15. Ruby Chatterjæ, 'Ut Pictura Poesis' *King Lear and the Art of Baroque*, J. U. Essays and Studies V, Calcutta, 1986, p. 109.

Poetry of the Nineties

Sankar P. Singha

The Nineties have long been thought a decisive decade, yet they have been obscured by a series of partial interpretations. A variety of reasons have invested the memory of that remarkable decade with an undesired stigma of ineffective wickedness, dallying dilettantism and decaying exhaustion. The most-significant of these was the idea of 'tragic generation' as evolved by W. B. Yeats in his *Autobiographies*. Taking the cue from Yeats, Ezra Pound writes his preface to Lionel Johnson's *Poetry* in a tone of patronage, a tone of superior knowledge that slightly mocks at "the softness of the nineties".¹ T. S. Eliot, writing in the same vein, suggests that "sick or sorry" is the "common property"² of the Nineties and rejects their achievement with a subtly balancing judgement. It was necessary for the modernists to call in question the intrinsic worth of the Nineties in order to emphasize their originality. Renato Poggioli has very aptly commented that "by treating aestheticism and decadence as the last exotic pendants of a hopelessly frumpish Victorianism modernists made modernism newer".³ But the search for identity that followed the initial impact of the 'modern' twentieth century literature, led many a critic to focus their attention on the period of transition that saw the transformation of Victorian literature into modern literature.

There are two basic misconceptions about the Nineties: the decade is thought to be either the period of decline or of rebirth of the poetic sensibility. If it is wrong to associate the decade with senility and death, it is also equally oversimplistic to describe it as the forerunner of the modern age. Helmut E. Gerber in his article on the Nineties⁴ for the *English Institute* in 1959 has cogently argued in favour of describing the decade as a period of transition and experimentation. Actually, the last decade of the previous century was an extraordinarily varied period, full of all sorts of movements and countermovements. Decadence, aestheticism, naturalism, impressionism, Symbolism, neo-romanticism, modernism, late Victorianism and a host of other 'isms' are recognised to

111

have their origin in this period. This diversity constitutes the difficulty of writing anything on the poetry of the Nineties. But the borders between these classifications are unclear and the premises often overlap. This interweaving of threads is one of the chief distinguishing features of the period.

Broadly speaking, there existed two parallel traditions of poetry in the later part of the nineteenth century. One may be described as the decadent aesthetic-symbolist tradition while the other should be termed the counter-decadent activist tradition. The ideals of both groups have been beautifully laid down by J. M. Munro: "The decadents followed Tennyson's advice in "The Lotos-Eaters" and lived "in the hollow Lotos-land" and reclined "on the hills like gods together, careless of mankind" "while the counter-decadents preferred the brisker code advocated by the same poet's "Ulysses" who found it "dull..... to pause, to make an end,/To rust unburnished, not to shine in use,/As though to breathe were life".⁵ To the former group belong poets like Ernest Dowson, Lionel Johnson, Arthur Symons, Oscar Wilde, Francis Thompson and others while it is customary to assign such names as W. E. Henley, Rudyard Kipling and Henry Newbolt to the latter group. But it would be a mistake to assume that they constituted two mutually exclusive groups. W. B. Yeats, for example, appears to have felt no inconsistency in being associated with both camps simultaneously. Again, in his "the Decadent Movement in literature"⁶, an article which appeared in *Harper's New Monthly Magazine* in 1893, Symons actually referred to Henley as a decadent, a poet to be mentioned in the same breath as Verlaine. Thus the two terms, though to be adopted for the sake of convenience, give only a general indication of boundaries.

The term Nineties is generally used with reference to the aesthetic-decadent—symbolist—formalist tradition of the period. The basic idea underlying this tradition was that of the autonomy of art and its supremacy over all other goods. Art or beauty could be the object of exclusive and priestly devotion because it was the highest thing. This may roughly be described as the aesthetic premise of poetry and the decadents only emphasised this aesthetic premise more aggressively by consciously cultivating morally dubious sensations and subject matters. The decadents' attitude towards their subject-matter was perhaps more important than their choice of subject matter. They might dwell on the colours of a corpse, affirming that the greens were fine as meadow grass.

They presented without criticism the ugly, morbid, perverse, pathological, self-destructive and the like and they found in them a deeper reality and a strange new beauty as is suggested by Baudelaire's *Les Fleurs du Mal*. Now, we are within the hailing distance of the symbolist premise of poetry because symbolism aims at evoking or even touching, through the employment of various symbols, a reality beneath or beyond the routines or ordinary concerns of life—something more essentially real than business, politics, war or death. Thus the idea of the autonomy of art was something central to the Nineties and this is where the divergent developments of the period could have united. Even the inveterately opposed tendency of naturalism was moving in the same direction in placing the demands of art above all other considerations especially outside and above moral exigencies. It was therefore, a period of complex merging and one good tendency in the recent years is to encourage a 'lateral' study of the period.

The principle of autonomy is a very complex idea having numerous implications and leading to various developments in the Nineties. Poetry came to be believed to have no other end than itself: Poetry could be poetry in the highest sense only when it was free of any other ideal commitment, whether to moral good, religious belief, truth to life or nature or social betterment. Believing that art needed no justification for its existence other than the fact that it was art, there was no incentive for the artist to produce works which evoked anything other than a pleasing aesthetic response. Under the influence of James McNeill Whistler (1834—1903), an attempt was made to ignore even the anecdotal interest of poetry. Whistler regretted in his *The Gentle Art of Making Enemies* that "the vast majority of English folk will not consider a picture as a picture, apart from any story which it may be supposed to tell".⁷ Some of the poets of the Nineties attempted to achieve the same goal of divorcing poetry from anecdotalism. Oscar Wilde's "Les Silhouettes" is a good example.

The sea is flecked with bars of grey,
The dull dead wind is out of tune,
And like a withered leaf of the moon
Is blown across the stormy bay.

Etched clear upon the pallid sand
The black boat lies; a sailor boy
Clambers aboard in careless joy
With laughing face and gleaming hand.

And overhead the curlews cry,
Where through the dusky upland grass
The young brown-throated reapers pass,
Like silhouettes against the sky.

In this poem there is evidently no intention of conveying any grand emotion or improving message. Wilde here just reproduces the visual impression of a country-side scene without any comment. He does not assign any meaning to the impression or relate it to others for to do so would be to build up a coherent anecdotal sequence. The scene is presented as if by notations and the poem remains concentrated on the complex momentary sensations and feelings. This of course, is in accordance with the impressionistic technique. Wilde's "Impression du Matin" may be taken as another example :

The Thames nocturne of blue and gold
Changed to a Harmony in gray ;
A barge with ochre-coloured hay
Dropt from the wharf : and chill and cold

The Yellow fog came creeping down
The bridges, till the houses' walls
Seemed changed to shadows and St. Paul's
Loomed like a bubble over the town.

Then suddenly arose the clang
Of waking life ; the streets were stirred
With country waggons ; and a bird
Flew to the glistening roofs and sang

But one pale woman all alone,
The daylight kissing her wan hair
Loitered beneath the gas lamp's flare,
With lips of flame and heart of stone.

Apart from the fact that here Wilde aims at reproducing the impression of an urban scene there is practically no difference between these two poems. The finest illustration of this kind of poetry is perhaps provided by Arthur Symonds's "Going to Hammersmith." Written in 1891, this two-stanza poem was afterwards retitled "In the Train".

The train through the night of the town,
Through a blackness broken in twain
By the sudden finger of streets ;

Lights, red, yellow and brown,
From curtain and window-pane,
The flashing eyes of the streets.

Night and the rush of the train,
A cloud of smoke through the town,
Scaring the life of the streets,
And the leap of the heart again,
Out into the night, and down
The dazzling vista of streets ;

There is nothing conventionally poetic here. The subject-matter is taken from everyday urban experience and the poem is deliberately slight. There is no narrative progression. Symons excludes finite verbs as these would impose a temporal sequence upon the poem. The technique reveals a novel attempt at the simultaneous communication of simultaneous mental events. Symons knits the poem together by repeating rhyme words in such a way that it continually turns back upon itself. The details of the journey are described not primarily for their own sakes but as a means of communicating to the readers' mind the young poet's feeling of excitement and adventure. The feelings themselves are not described at all. Instead the picture calls up the mood. Symons is attempting, in short, to evoke his own multi-faceted and emotionally charged mental experience as a single instantaneous experience in the mind of the reader. This is virtually nothing other than what Pound described as presenting "to the soul of the reader an intellectual and emotional complex in the soul of the poet, in an instant of time".⁸ In fact, both Symons's poetic practice and theory anticipate several basic tenets of the early twentieth century poetics.

Let us come back to our original proposition of the autonomy of art. Some of the poets in emphasising this autonomy consciously dealt with morally questionable sensations and subject-matters in poetry. One of the characteristic features of the age was, in Derek Stanford's phrase, "a ubiquitous extension of the sense of sex".⁹ This was so in the personal lives of the poets as well as in the subject-matter of their poetry. Ernest Dowson was the representative figure who, as Pound says, "found harlots cheaper than hotels"¹⁰

Arthur Symons in his "Stella Maris" commemorates—

"The chance romances of the street
The Juliet of a night..."¹¹

Sexual aberrations also form the staple of Lionel Johnson's celebrated poem "The Dark Angel". The reader here gets the *femme fatale* with suggestions of cruelty and irresistible fascination. The poet's dark angel never allows him any—

"Delight untortured by desire"¹²

and through her the poet seems to feel—

"...all the things of beauty burn
With flames of evil ecstasy..."¹³

This search for curious sensations, this burning with flames of ecstasy is another remarkable feature of decadence. The idea, of course, comes straight from Pater's famous "Conclusion" to *the Renaissance*. The portrait of the fatal woman has always existed in literature but during the late nineteenth century, as Prof. Mario Praz in his *The Romantic Agony* had made abundantly clear, English poets took her as their very own. Probably it was Keats who provided the archetype in his "La Belle Dame Sans Merci"—for the whole group. "The figure" says Clyde De L. Ryals, "is the decadent equivalent of the Byronic hero".¹⁴ He also suggests that if we compare the fatal Woman with the Byronic Hero we may be able to see the essential difference between romanticism and decadence.

Allied with this idea of unwholesome was the cult of artificiality. In his essay entitled "A word on Behalf of Patchouli" Symons vigorously argues in the Baudelairean tradition on behalf of the artificial as opposed to the natural :

"Is there any 'reason in nature' why we should write exclusively about the natural blush, if the delicately acquired blush of rouge has any attraction for us?"¹⁵

Consequently, the poets tended to dwell on the distinctly man-made—the ceremonies and coiffures of the civilized fashion, and art itself: paintings, Chinese jars, cameos, the Javanese dance, the carved lapis lazuli and the bird of hammered gold. Symons's "Maquillage" illustrates this artificiality in a remarkable way :

The charm of rouge on fragile cheeks,
Pearl-powder, and about the eyes,
The dark and lustrous eastern dyes;
A voice of violet that speaks

Of perfumed hours of day, and doubtful night
Of alcoves curtained close against the light..

No less telling is Wilde's description of his beloved in his "In the Golden Room". He describes her in a manner as if she were artificial :

Her ivory hands on the ivory keys
Strayed in a fitful fantasy,
Like the silver gleam when the poplar trees
Rustle their pale leaves listlessly,
On the drifting foam of the restless sea
When the waves show their teeth in the flying breeze.

This cult of artificiality presupposes the concept of radical opposition between art and nature. This idea of antithesis between nature and artifice also plays into Yeats's "Sailing to Byzantium" and "Byzantium", two of the greatest lyrics of the century. Indeed, these poems seem inconceivable without this aesthetic premise of the antagonism between art and nature.

As a corollary to this cult of artificiality came a conscious attempt towards writing an urban poetry, the poetry of the cities. Lionel Johnson in his "London Town" declares :

Let others chaunt a country praise,
Fair river walks and meadow ways ;
Dearer to me my sounding days
In London town ;
To me the tumult of the street
Is no less music, than the Sweet
Surge of the wind among the wheat,
By dale or down...etc.

In his article on Paul Verlaine in 1892 Symons put forward Verlaine's expression of "the tumultuous impressions of the modern man of cities"¹⁶ as an important element of his modernism. In the same year he praises W. E. Henley's *The Song of the Sword* for his "capacity for dealing with London".¹⁷ In 1891, reviewing George Moore's *Impressions and Opinions*, he commended especially Moore's study of Degas, "the painter who has created a new art, ultra-modern, fin-de-siècle, the art of the ballet, the bath-room, the washing tub, the race-course, the shop-windows."¹⁸ And he himself wrote a number of accomplished poems concerning the ballet and the dancer. As a young man he frequented

the dance halls of Paris and London and wrote many poems on the subject. Involvement with an actress or a dancer or a highly made-up woman became a favourite symbol of the attempt to escape the bonds of the real world, especially since it is also related to the striving for freedom of subject matter. A few of such poems by Symons are quite remarkable displaying a mastery of rhythm and form and intensifying the moments "sensations into a kind of epiphany. Let us take, for example, *Javanese Dancers*" :

Twitched strings, the clang of metal, beaten drums,
Dull, ShriII, continuous, disquieting ;
And now the stealthy dancer comes
Undulantly with cat-like steps that cling ;
Smiling between her painted lips a smile,
Motionless, unintelligible she twines
Her fingers into mazy lines,
The scarves across her fingers twine the white.

One, two, three, four glide forth, and, to and fro,
Delicately and imperceptibly
Now swaying gently in a row,
Now interthreading slow and rhythmically,

Still, with fixed eyes, monotonously still,
Mysteriously, with smiles inanimate,
With lingering feet that undulate
With sinuous fingers, spectral hands that thrill

In measure while the gnats of music whirr,
The little amber-coloured dancers move,
Like painted idols seen to stir
By the idolaters in a magic grove.

The poet is clearly fascinated with the movements of the dancer and tries to capture in his verse something of the sinuous, interweaving rhythm of her dance. The human figure in the poem takes on the stiffness and artifice of the works of art as she is compared to "painted idols" with "fixed eyes" and "smiles inanimate". The dance is performed in a slow, studied rhythm to the exotic sounds of "twitched strings, the clang of metal, beaten drums". The poem is, in fact, a master-piece of stylization, ritual, artifice, exoticism and dubious eroticism. But this is not the whole thing about the poem. The dance, in its very perfection, evokes a suggestions of

something supra-mundane. Not that the dancer is conscious of her role as a symbolist artist. She performs the act for pure joy; and the spectator too, can take a joy in the performance. But in the very act of watching the performance, the spectator becomes conscious of something other than the more sensuous appeal. One cannot say that the dance means this or that, for the dance does not state or describe anything. But through the perfection of her movements the dancer creates a symbol through which the transitoriness of individual life is linked to that of the world, the rhythm of the individual spectator's life unified with the rhythm of the whole Universe. Symons himself expostulated the idea in an embryonic form in his essay "The World as Ballet" First published in *The Dome* and later incorporated into *Studies in Seven Arts*. So the poem, to quote Edward Baugh, "moves from an impressionistic to a symbolic conception of the dancer."¹⁹ In fact, in decadence itself was latent a longing for the unwordly which moved in natural stages to the anti-wordly, the anti-natural, the artificial and the unnatural. The decadent writer is caught between two pulls: on the one hand, he is drawn by the world, its necessities and the attractive impressions while on the other hand he yearns towards the eternal, the ideal and the unwordly. This constitutes, in Mr. R. K. R. Thornton's phrase "the decadent dilemma"²⁰ Ernest Dowson's "Non Sum Qualis Eram Bonae Sub Regno Cynarae" is the most important example where the "bought red mouth" is made tasteless by the siren call of cynara :

Last night, ah, yesternight, betwixt her lips and mine
 There fell thy shadow, Cynara I thy breath was shed
 Upon my soul between the kisses and the wine,
 And I was desolate and sick of an old passion,
 Yea, I was desolate and bowed my head :
 I have been faithful to thee, Cynara I in my fashion.

All night upon mine heart I felt her warm heartbeat,
 Night-long within mine arms in love and sleep she lay ;
 Surely the kisses of her bought red mouth were sweet
 But I was desolate and sick of an old passion,
 When I awoke and found the dawn was gray ;
 I have been faithful to thee, Cynara I in my fashion.

I have forgot much, Cynara I gone with the wind,
 Flung roses, roses riotously with the throng,

Dancing, to put thy pale, lost lilies out of mind
But I was desolate and sick of an old passion,
Yea, all the time, because the dance was long ;
I have been faithful to thee, Cynara ! in my fashion.

I cried for madder music and for stronger wine,
But when the feast is finished and the lamps expire,
Then falls thy shadow, Cynara ! the night is thine ;
And I am desolate and sick of an old passion,
Yea, hungry for the lips of my desire.
I have been faithful to thee, Cynara ! in my fashion.

Written in a bar, the poem is the most complete expression of the fin-de-Siècle in England because of its obvious intention to defy the middle-class morality, its plush and gaslit classicism, its elaborate and musical artifice, its nostalgia of the libertine for lost innocence, its desperation and hopelessness. But the central theme of the poem is the contrast : the poet's irresistible fascination for the pleasures of the senses and his faithfulness to the unattainable in one form or another. This contrast was central not only to Dowson, but to Symons, Lionel Johnson and, to some extent, to Yeats as well. The concluding Stanza of Lionel Johnson's "By the Statue of King Charles at Charing Cross" shows this antithesis quite clearly :

Yet, when the city sleeps ;
When all the cries are still ;
The stars and heavenly deeps
Work out a perfect will.

The same antithesis is evident in Yeats's longing for the "Far off, most secret, and inviolate Rose" in his "The Secret Rose". This longing for the ideal in its turn brought about a sense of despair and world weariness. The opening stanza of Lionel Johnson's "Mystic and Cavalier" offers a beautiful illustration :

"Go from me : I am one of those, who fall,
What ! hath no cold wind swept your heart at all.
In my sad company ? Before the end
Go from me, dear my friend."

But, of the Nineties it was perhaps Dowson who had this life-weariness as his birthright. To many of his contemporaries this ennui was merely

a pose or a deliberately cultivated temporary condition out of which a poem might emerge. For instance, Arthur Symonds toyed with the theme in his poem "Satiety". But, Dowson's "Vitae Summa Brevis Spem Nos Vetat Incohare Longam" vibrates with a genuine tone of hopelessness :

They are not long, the weeping and the laughter,
Love and desire and hate :
I think they have no portion in us after
We pass the gate.

They are not long, the days of wine and roses ;
Out of a misty dream
Our path emerges for a while, then closes
Within a dream.

The title of the poem is drawn from Horace's *odes* Book I, IV, 1. 15. This in itself suggests that Dowson was a "literary poet" whose work discloses at every turn faint echoes of his wide reading. Not only Dowson, almost all the poets of the Nineties delighted in assimilating other's creations and relating them into their own unforgettable achievements. The title of this poem may freely be rendered as "Life's brief span forbids long enduring hope".²¹ The translation is Mark Longaker's. Longaker also comments that Poe's poem "A Dream within A Dream" with its lines—

"All that we see or seem
Is but a dream within a dream"

with which Dowson was no doubt familiar, is an interesting parallel. The effect of Dowson's poem depends more on its versification. The sense of world weariness is conveyed by cataloguing love and laughter in the same tone as weeping and hate. The diction has almost a Biblical or classical simplicity and directness that betrays a conscious and scrupulous design.

Here we touch the final offshoot of the principle of autonomy. Since poetry was believed to have no other end than itself the poets concentrated their whole effort in achieving a self-conscious style : What Pater in his essay on "Style" characterises as "the one word for the one thing, the one thought amid the multitude of words".²² Along with this they developed a belief in the superiority of art and the artist. By 1886 Austin Dobson translated into faultless quatrains

Gautier's "Ars Victrix". The poem is a classic exposition of both these attitudes. I am quoting only four relevant stanzas :

"O poet, then, forbear
The loosely sandalled verse,
Choose rather thou to wear
The buskin-strait and terse ;

Leave to the trio's hand
The limp and shapeless style.
See that thy form demand
The labour of the file (Sts. II & III)

All passes, Art alone
Enduring Stays to us
The Bust outlasts the throne,
The coin, Tiberius ;

Even the gods must go,
Only the lofty Rhyme
Not countless years O'erthrow,
Not long array of time. (Sts. VIII & IX)

Arthur Symons in his "Art Poetique" declares :

"Music first and foremost of all !"

and exhorts his contemporaries to

"Take Eloquence, and wring the neck of him !"

Yeats in his "A Coat" expresses much the same desire of shunning rhetoric and discursiveness from poetry. The element of hard work in style was emphasized and it was an antidote to the romantic theory of inspiration. Yeats dramatised it in stark contrast in his famous poem "Adam's Curse".

"Better go down upon your marrow bones
And scrub a kitchen pavement, or break stones
Like an old pauper, in all kinds of weather,
For to articulate sweet sounds together
Is to work harder than all these."

So the poets of the Nineties placed efforts towards style as a sacred duty. And this was an issue on which the different movements of the

time could coalesce. Even poets like Robert Bridges who does not belong to any camp, has affirmed his own approach to poetry in these words :

"What led me to poetry was the inexhaustible
Satisfaction of form, the magic of speech..."²³

In fact, the greatest achievement of the Nineties constitutes in reminding the literary artists that poetry is an art to be practised no less carefully than the arts of music and painting. Even T. S. Eliot had to admit this :

"The theory of art for art's sake is still valid in so far as it can be taken as an exhortation to the artist to stick to his job,"²⁴

Notes and References :

1. Ezra Pound, *Literary Essays of Ezra Pound* (Faber and Faber, London), p. 362.
2. T. S. Eliot, *The Sacred Wood* (University paperback, 1969), p. 3.
3. Malcolm Bradbury (ed.), "Preface" to *Decadence and the 1890s* (London, 1979), p. 7.
4. Richard Ellman(ed), *Edwardians and Late Victorians* (New York, 1960), pp. 50—79,
5. John M. Munro(ed), *English Poetry in Transition 1880—1920* (New York, 1968), p. 24.
6. Arthur Symons, "The Decadent Movement in Literature", *Harper's New Monthly Magazine*, LXXXVU, 1893, pp. 858—67.
7. Graham Hough, *The Last Romantics* (Univ. paperback 1961), p. 179.
8. Ezra Pound, *Poetry* (Vol. I, No. 6, March 1913), p. 200.
9. Derek Stanford(ed), *Critics of the Nineties*, (London, 1970), p. 13.
10. Ezra Pound, *Selected Poems* (London, Faber and Faber), p. 177.
11. Fraser Harrison(ed), *The Yellow Book* (London, 1974), p. 195.
12. Lionel Johnson, *Poems of Lionel Johnson*(ed). Fletcher (London, 1953), p. 66.
13. Op cit.
14. Clyde de L. Ryals, "Towards a Definition of Decendent as applied to British Literature of the Nineteenth Century", *Journal of Aesthetics and Art Criticism*. Vol. XVII, 1958, p. 87.

15. Quoted by David Perkins in his *A History of Modern Poetry* (London, 1976), p. 54.
16. Quoted by Tom Gibbons in his "Modernism in Poetry: The Debt to Arthur Symons", *The British Journal of Aesthetics* (Vol. 13, No. 1, Winter 1973) pp. 47-58.
17. Op. Cit.
18. Op. Cit.
19. Edward Baugh, "Arthur Symons, Poet: "A Centenary Tribute", *A Review of English Literature* (Vol. VI, No. 3, July 1965), pp. 69—80.
20. Malcolm Bradbury(ed), *Decadence and the 1890S* (London, 1979), p. 26.
21. Mark Longaker(ed), *The Poems of Ernest Dowson* (Philadelphia, 1962), p. 189.
22. Walter Pater, *Appreciations* (Rupa & Co. 1967), p. 19.
23. Quoted by Ifor Evans in his *English Poetry in the Later Nineteenth Century*. (Methuen & Co., London, 1966), p. 245.
24. T. S. Eliot, "Arnold and Pater" *Selected Essays* (London, 1924), p. 442.

Contributors :

লায়েক আলি খান, এম. এ., পি-এইচ-ডি.

স্নাতক ও বিভাগীয় প্রধান, বাংলা বিভাগ, বিদ্যাসাগর বিশ্ববিদ্যালয়

চিক্রিতা সিংহ চৌধুরী, এম. এ., এম. ফিল-

লেকচারার, বাংলা বিভাগ, বিদ্যাসাগর বিশ্ববিদ্যালয়

Hiranmoy Bandyopadhyay, M. A.,

Professor of Philosophy, Jadavpur University

Sabujkali Sen (Mitra), M. A., Ph-D.

Reader in Philosophy, Viswa Bharati University

Raghunath Ghosh, M. A., Ph-D.

Reader in Philosophy, North Bengal University

Prabhat Misra, M. A., M.Phil.

Reader in Philosophy & Head of the Deptt.

Vidyasagar University

Rama Kundu, M. A., Ph-D.

Reader in English, Burdwan University

Mohit Kr. Roy, M. A., Ph-D.

Professor of English, Burdwan University

Akram Hossain Mollah, M. A., Ph-D.

Reader in English, Vidyasagar University

Sankar Prasad Singha, M. A., Ph-D.

Reader in English & Head of the Deptt. Vidyasagar University

Editor Tapan Jyoti Banerjee, M. A., Ph-D.

Professor of English, Vidyasagar University

